

नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो० राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम



AryaMantavya
Make The Whole World Noble

लेखक की रचनाएँ

जीत या हार (उपन्यास)
भारत और संसार
भारत की सुरक्षा
भारत की विदेश नीति एवं अन्य समस्याएँ
भारत में लोकतन्त्र
भारतीयकरण
हिन्दू राष्ट्र
भारतीय जनसंघ एक राष्ट्रीय मंच
डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी (जीवनी)

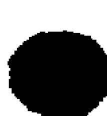
IN ENGLISH

Indian Nationalism
Kashmir Centre of New Alignments
India's Foreign Policy and National Affairs
Nationalism Democracy and Social Change
What Jana Sangh Stands For ?

हिन्दू राष्ट्र

(एक ऐतिहासिक विवेचन)

बलराज मधोक



भारती साहित्य सदन, नई दिल्ली-१

प्रकाशक : भारती साहित्य सदन
वितरक : भारती साहित्य सदन सेल्स,
३०/९० कनाट सरकस, नई दिल्ली-१
संस्करण : प्रथम १९५८
द्वितीय १९६८
तृतीय १९७१
मूल्य : दो रुपये
मुद्रक : एन० एल० ऐण्ड एल० एन० कम्पोजिंग एजेन्सी द्वारा
अजय प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

प्राक्कथन

यह राष्ट्रीयता का युग है। संसार के सभी देशों में राष्ट्र भावना अन्य सभी भावनाओं पर हावी हो रही है। 'संसार के मज़दूरो, एक हो जाओ' की रट लगाने वाले कम्युनिस्ट देश भी राष्ट्रीयता के प्रभाव से अछूते नहीं रहे। कम्युनिस्ट रूस और कम्युनिस्ट चीन का संघर्ष मुख्यतया दो राष्ट्रीयताओं का संघर्ष है, जिसने उनकी कम्युनिज़्म-जनक एकता को छिन्न-विच्छिन्न करके रख दिया है।

राष्ट्रीयता के आधारों के सम्बन्ध में भी सर्व दूर मतैक्य है। देश की भूमि और उसकी संस्कृति, परम्परा, इतिहास और महापुरुषों के प्रति सर्वोपरि आस्था राष्ट्रीय भावनाओं का मूल आधार माना गया है। विभिन्न प्रकार की विभिन्नताओं के बावजूद लगभग सभी देशों के सभी लोगों और दलों में इसके सम्बन्ध में मतभेद नहीं है। हमारी राष्ट्रीयता क्या है और इसके स्रोत क्या हैं, यह कहीं भी विवाद का विषय नहीं है।

परन्तु भारत एक ऐसा अभागा देश है, जिसमें इस मूलभूत प्रश्न पर भी मतभेद विद्यमान है। कांग्रेस तथा कांग्रेस से निकले हुए विभिन्न राजनीतिक दल भारतीय राष्ट्रीयता को एक ऐसा विकृत रूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं जो भारत की एकता के लिये घातक सिद्ध हो सकता है। १९४७ का देश-विभाजन भी मुख्यतया भारतीय राष्ट्रीयता के गलत निरूपण और उसके मूल स्रोतों के प्रति दुर्लक्ष्य करने का ही परिणाम था। उससे कुछ पाठ सीखने के स्थान पर, कांग्रेस दल ने अपने दलगत स्वार्थों के लिये उन्हीं गलत परम्पराओं और नीतियों को नये नाम देकर जारी रखा। वयस्क मताधिकार के आधार पर लोकतंत्र को अपनाने से

विघटनकारी नीतियों को बढ़ावा मिलना स्वाभाविक था। लोकतंत्र की यह एक बुनियादी कमजोरी है कि विभिन्न दल और प्रत्याशी चुनाव जीतने के लिये क्षेत्रीय, जातीय अथवा अन्य भावनाओं को उभार कर सामूहिक मत प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। लोकतंत्र के इस विघटनात्मक प्रभाव की काट विशुद्ध और प्रबल राष्ट्र भावना होती है जो कि राष्ट्रीय हितों को विभिन्न दलीय, क्षेत्रीय, जातीय अथवा वर्गीय स्वार्थों से ऊपर मानने और रखने की प्रेरणा देती है। यही कारण है कि संसार के सभी लोकतंत्रीय देशों में राष्ट्रीयता की भावना को दृढ़ करने के लिये विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। प्रबल राष्ट्रीयता और परम्पराओं के प्रति अनुराग लोकतंत्र की सफलता और लोकतंत्रीय देशों की एकता बनाये रखने के लिये अति आवश्यक है।

स्वतन्त्र भारत ने लोकतंत्र को तो अपना लिया परन्तु इसके विघटनकारी परिभाषाओं से देश को बचाने के लिये आवश्यक राष्ट्र भावना को जगाने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप, राष्ट्रीयता की गलत धारणा के कारण तथाकथित भारतीय राष्ट्रीयता भी विघटन की पोषक बन गई।

कम्युनिस्ट चीन और पाकिस्तान के आक्रमणों के समय क्षणिक रूप में विशुद्ध राष्ट्र भावना जगी, परन्तु उससे कांग्रेस और उसके पृष्ठ-पोषकों को भय लगने लगा। उन्होंने उस राष्ट्र भावना को सुदृढ़ और स्थायी बनाने के स्थान पर उसे यथाशीघ्र दबाने का ही प्रयत्न किया।

फलस्वरूप राष्ट्रीयता की भावना लगातार कमजोर होती जा रही है। इसका लाभ उठाकर विघटनकारी शक्तियों और तत्त्वों की गतिविधियाँ लगातार तेज होती जा रही हैं। शासन की गलत नीतियाँ और चुनावों की विवशताओं के कारण ऐसे तत्त्वों को देश के अन्दर और बाहर से प्रभावी समर्थन मिलने लगा है। उनका आपस में गठजोड़ हो रहा है। पाक-परस्त और चीन-परस्त तत्त्व तो घी-शक्कर हो चुके हैं और अब मास्को-परस्त कम्युनिस्ट भी उनके गठजोड़ में शामिल हो रहे हैं।

: १ :

जीवन-शक्ति के रूप में राष्ट्रीयता के पुनर्विवेचन की आवश्यकता

राष्ट्रीयता व्यक्ति को अपने राष्ट्र के लिए उच्चकोटि के शौर्य तथा बलिदान की प्रेरणा देने वाली सामूहिक भावना की एक ऐसी उच्चतम अभिव्यक्ति है जिसका संसार के इतिहास-निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है। विशेषतया फ्रांस की क्रान्ति, जिसको आज के यूरोप में उदारवाद तथा राष्ट्रवाद का जनक कहा जाता है, के समय से तो राष्ट्रीयता की भावना का प्रभाव इतिहास पर बढ़ गया है। पिछली दो सदियों में इसने संसार में युद्ध और शान्ति करने का तथा समान एवं विपरीत राष्ट्रीयता रखने वाले जन-समूहों व देशों के एकीकरण अथवा विघटन के मुख्य कारण और प्रेरक बनने का काम किया है।

किन्तु यह सोचना नितान्त भ्रमपूर्ण होगा कि राष्ट्रीयता की अनुभूति अभी कुछ शताब्दी पहले से ही होने लगी है और इससे हमारे पूर्वज सर्वथा अनभिज्ञ थे। सामूहिक भावना मानव का स्वभाव है। प्रारम्भ से ही इसने मनुष्य के राजनीतिक और सामाजिक विकास में एक महत्वपूर्ण कड़ी का काम किया है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही सामाजिकता सामूहिक जीवन का मूल रही है। मनुष्य की आवश्यकताएँ भी इसके पनपने में सहायक रही हैं। परिवार, जाति, उपजाति तथा घर, गाँव, जनपद और देश, मानवीय विकास के ही दो पहलू हैं। किन्तु इस विकास की उत्तरो-

त्तर वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य की सामाजिक अनुभूति का क्षेत्र भी बढ़ता गया और अब भी वह निरन्तर बढ़ रहा है। आज स्थिति ऐसी है कि संसार के अधिकांश भागों में राष्ट्रीय इकाइयाँ व्यक्ति की निष्ठा पर सबसे अधिक दावा रखने लगी हैं।

अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रीयता का पूर्वाभास

सारे संसार की एक इकाई हो और सभी मनुष्य एक जाति-समूह में गिने जाएँ, ये विचार सामूहिक चेतना की, एक बहुत ही ऊँची अवस्था है। अन्तर्राष्ट्रीयता के भाव तथा विश्व-संघ की स्थापना मनुष्य की स्वदेशीय स्वार्थ से ऊपर उठने की इच्छा को ही प्रकट करते हैं। राष्ट्र-संघ (League of Nations) तथा संयुक्त राष्ट्र-संघ (U.N.O.) जैसे संघटन मनुष्य की इच्छा को ही कार्यरूप देने के माध्यम हैं। किन्तु इतने से ही यह नहीं समझा जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीयता मनुष्यमात्र पर पूर्णतया व्याप्त हो गई है। बल्कि यह तो अभी तक केवल उन थोड़े से शक्तिशाली पश्चिमी सत्ताओं का ही विषय है, जिन्हें राष्ट्रीयताजन्य सब लाभ सहज ही प्राप्त हैं। किन्तु जब से वे अनुभव करने लगे हैं कि उनके अधीन देश भी अपने राष्ट्रीय अधिकारों के विषय में सजग हो गये हैं और इसकी वे ज़ोरदार शब्दों में माँग करने लगे हैं, तब से उन शक्ति-शाली सत्ताओं की अन्तर्राष्ट्रीयता की पुकार केवल उन अधीन देशों के जन्मसिद्ध अधिकारों की माँग को भुलावे में डालने का साधन बन रही है। इसीलिए वे अधीन अथवा अविकसित देश जहाँ अभी तक राष्ट्रीयता का विकास नहीं हो पाया है और जो इसके लिए संघर्ष कर रहे हैं, इस अन्तर्राष्ट्रीयता को शंका की दृष्टि से देख रहे हैं। उनकी यह धारणा तर्कसंगत ही है कि अन्तर्राष्ट्रीयता का अंकुर राष्ट्रीयता से प्रस्फुटित होता है। अतः जिन राष्ट्रों की अवस्था अभी प्रतिष्ठापूर्ण नहीं है, जहाँ सक्रिय राष्ट्रीयता की भावना अभी नहीं जगी, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीयता का राग फलदायक नहीं हो सकता। संभवतः इसीलिए वर्तमान चीन के

निर्माता स्वर्गीय डॉ० सनयात सेन ने चीन के तरुणों से यह मार्मिक अपील की थी कि वे अन्तर्राष्ट्रीयता के इन नारों से प्रभावित न हो जाएँ, जो पाश्चात्य लोग चीन के दृढ़ीकरण और पुनर्निर्माण-कार्य से उनका ध्यान हटाने के लिए लगा रहे हैं। डॉ० सनयात सेन ने कहा था, "हमें यह समझ लेना चाहिए कि विश्वनागरिकता की उत्पत्ति राष्ट्रीयता से ही हुई है। यदि हम उसकी स्थापना करना चाहें तो हमें चाहिए कि पहले हम अपनी राष्ट्रीयता को सुदृढ़ बनाएँ। क्योंकि जब तक राष्ट्रीयता सुदृढ़ नहीं होगी तब तक अन्तर्राष्ट्रीयता कभी पनप नहीं सकती। राष्ट्रीयता का परित्याग कर विश्वनागरिकता का राग अलापने का तात्पर्य घोड़े के आगे गाड़ी जोड़ देने के समान ही होगा।"

साम्यवादी रूस में राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता में कितना सामर्थ्य है, देशभक्ति की भावना की प्रगति में इसका कितना महत्व है और देश के लिए स्वयं को बलिदान करने की भावना के उद्रेक में इसका कितना हाथ है, इसका सबसे उत्तम दृष्टान्त साम्यवादी रूस ने उपस्थित किया है। 'संसार के मज़दूरो ! एक हो जाओ' के अनुसरण में रूस के बोल्शेविकों ने समस्त संसार में क्रान्तिपूर्ण उत्तेजना उत्पन्न कर देने की प्रबल इच्छा के वशीभूत होकर राष्ट्रीयता का तिरस्कार कर जर्मनी और ब्रिटेन के मज़दूरों से अपनी-अपनी राष्ट्रीय सरकारों के सामने सिर उठाने का आग्रह किया था। अपने देश के अतीत की घटनाओं को उन्होंने मध्य श्रेणी का कल्पना-मात्र, तुच्छ और प्रतिक्रियावादी कहकर निन्दा की थी। वे चाहते थे कि रूसी अपने अतीत एवं राष्ट्र भावना को भुलाकर अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के अग्रदूत के रूप में सन् १९१७ से अपना नवीन इतिहास प्रारम्भ करें। उन्होंने रूस के महान् योद्धा एलेक्जेण्डर नावेस्की, जो सातवीं सदी में देश के लिए आक्रमणकारियों से लड़ा, पीटर महान् और कैथरिन, जिन्होंने रूस को उसकी वर्तमान स्थिति तक पहुँचाने में बहुत योग दिया, राजकुमार सुजोनोव, जिसने नैपोलियन के विरुद्ध

रूसी सेनाओं का नेतृत्व किया और अनेकों अन्य राजाओं तथा सेनापतियों तथा विद्वानों को रूस के कालिमापूर्ण अतीत के प्रतिक्रियावादी प्रतिनिधि कहकर तिरस्कृत किया और चाहा कि रूस की जनता उस अतीत को एकदम ही भुला दे।

किन्तु द्वितीय महायुद्ध के समय उसी रूस के साम्यवादी नेताओं ने यह अनुभव किया कि वे परिस्थितियों तथा समय की माँग के अनुसार केवल रोटी और 'क्रान्ति' के साम्यवादी नारों से वहाँ के नवयुवकों को वीरता की प्रेरणा नहीं दे सकते। इसके लिये उन्हें रूस के अतीत गौरव तथा इतिहास की शरण लेकर, रूसी राष्ट्रीयता को पुनर्जागृत करना पड़ा। जिन्हें अब तक उन्होंने प्रतिक्रियावादी कहकर उपेक्षित कर दिया था, उन्हें ही अब इन नेताओं ने आदर्श के रूप में सामने रखना प्रारम्भ किया एवं नवयुवकों से अनुरोध किया कि वे भी उनसे प्रेरणा लें।

इस नई नीति से रूस के प्रशंसक तथा आलोचक दोनों ही स्तम्भित रह गये। इससे प्रभावित होकर मारिश हिन्दस ने अपनी पुस्तक 'मदर रशिया' में लिखा—"सोवियतों के क्षेत्र में आने के पश्चात् रूस वालों ने पहली बार स्वयं को अतीत के पन्नों पर इतनी अविराम गति और उत्साह से प्रतिबिम्बित कर उसे नए अर्थ और गौरव से विभूषित किया है...।" यह सोवियतवाद का अत्यधिक विस्मयकारी सामाजिक दृश्य है। रूस में राष्ट्रीय भावना का यह पुनरुद्धार सोवियतवाद का सबसे अधिक विस्मय-जनक पहलू है और हमारे युग में राष्ट्रीयता के बल का नवीनतम प्रमाण है।

भारत में राष्ट्रीयता की विफलता

किन्तु इसके बिल्कुल विपरीत गत लगभग साठ वर्षों से जिस राष्ट्रीयता का भारत में प्रचार किया जा रहा है, वह भारत की अनेकों युगों से चली आ रही भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक एकता को सुरक्षित व सुदृढ़ बनाने में बिल्कुल असमर्थ सिद्ध हुई। इतना ही

नहीं बल्कि यह द्वि-राष्ट्रवादी सिद्धान्त, जो भारत की वास्तविक राष्ट्रीयता के लिए चुनौती था, के आधार पर देश के विभाजन को भी न रोक सकी ।

जहाँ एक ओर इटली और जर्मनी सदृश अनेकों भागों में विभक्त देशों को एकरूप करने में राष्ट्रीयता का प्रमुख भाग रहा है, वहाँ भारत में प्रचारित की जाने वाली राष्ट्रीयता ने एक देश को दो टुकड़ों में बँटवा दिया है । इसने सभी विचारशील व्यक्तियों को यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया है कि, "हमारी राष्ट्रीयता में कौन-सी त्रुटि है ? यह भारतीयों में एकता की भावना जागृत करने में, जो राष्ट्रीयता का विशेष गुण है, क्यों असफल रही है ?"

स्वतन्त्र भारत के नेताओं तथा नवनिर्माताओं से आशा तो यही की जाती थी कि भारतीय राष्ट्रीयता की इस असफलता के कारणों पर गहन विचार कर, वे इसकी छानबीन करेंगे और निश्चय करेंगे कि भारतीय राष्ट्रीयता का सुदृढ़ तथा वैज्ञानिक मूलाधार क्या होना चाहिये । किन्तु दुर्भाग्य की बात तो यह है कि त्रुटियों के कारणों को जानकर उन्हें दूर करना तो अलग रहा, वे नेतागण आज भी उसी राष्ट्रीयता का पृष्ठपोषण कर रहे हैं, जिसने इस विशाल भारत को दो टुकड़ों में बाँट दिया । इतना ही नहीं प्रत्युत अपनी उस तथाकथित राष्ट्रीयता की असफलता का दोष अंग्रेजों एवं साम्प्रदायिकतावादियों के सिर मढ़कर जनसाधारण के साथ-साथ स्वयं को भी धोखा दे रहे हैं । उनमें यह स्वीकार करने का नैतिक बल नहीं है कि भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति उनका दृष्टिकोण मूल से ही गलत रहा है । सच्ची बात का सामना करने का सामर्थ्य उनमें नहीं रहा है, इसलिए वे उन सभी का विरोध करने लगे हैं, जो निर्भीक होकर उनकी त्रुटिपूर्ण राष्ट्रीयता का खंडन कर, इसके पुनर्विवेचन की माँग करते हैं । अथवा अपनी असफलताओं की ओर से लोगों का ध्यान बँटाने के लिए वे अन्तर्राष्ट्रीयता की आड़ ले रहे हैं ।

परिणाम-स्वरूप भारत की वह राष्ट्रीय चेतना, जो ब्रिटिश सरकार

की विनाशकारी नीतियों के बावजूद भी जीवित रही, अब क्रमशः निर्बल होती जा रही है और सारे देश में विघटनकारी प्रवृत्तियाँ भयंकर रूप में प्रकट हो रही हैं। जातिवाद, साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता तथा अपने-अपने दलगत स्वार्थ राष्ट्रीयता की ओट में देश की एकता को नष्ट कर रहे हैं। इस स्थिति ने जागरूक व्यक्तियों में भी उक्त राष्ट्रीयता के प्रति विरक्ति उत्पन्न कर दी है। अन्तर्राष्ट्रीयता में उन्हें एक प्रकार का बौद्धिक पलायन मिलता है। वे या तो व्यक्तिवादी बनते जा रहे हैं या अन्तर्राष्ट्रीयतावादी और जनता जातिवाद और प्रान्तीयता के दलदल में धँसती चली जा रही है।

राष्ट्रीय एकता और दृढ़ता के लिए संघर्षरत भारत को इस परिस्थिति ने एक नये संकट में डाल दिया है। उसकी सुरक्षा और एकता ही नहीं बल्कि उसका अस्तित्वमात्र भी बाहरी तथा भीतरी विनाशकारी शक्तियों के चंगुल में फँस गया है।

इस परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए आवश्यक है कि भारत को अपने एक-एक नागरिक की देश-भक्ति पर विश्वास हो। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब सभी भारतीय स्वस्थ राष्ट्रीयता से अनुप्रेरित हो, अपने व्यक्तिगत, दलगत, स्वार्थों तथा साम्प्रदायिकता एवं प्रान्तीयता से ऊपर उठकर भारत के सामूहिक हितों की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाएँ।

भारतीय राष्ट्रीयता में यह बल पैदा करने के लिए भारतीय राष्ट्रीयता का वैज्ञानिक अध्ययन कर, इसके मूल स्रोत को समझने और इसकी वर्तमान विफलता के कारणों को जानने की आवश्यकता है। इसके बिना भारतीय राष्ट्रीयता को राष्ट्रएकता का सशक्त साधन नहीं बनाया जा सकता।

: २ :

राष्ट्रीयता के मूल आधार

राष्ट्रीयता के वास्तविक आधार को स्थिर करने के लिए आज निम्न बातों पर विचार करना नितान्त आवश्यक है—

राष्ट्रीयता की कल्पना, जनसमूह में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने वाले कारणों एवं शक्तियों का परिज्ञान, राष्ट्रीयता की उत्पत्ति और उसका विकास, भारतीय राष्ट्रीयता की वर्तमान गतिविधि का सूक्ष्म अवलोकन तथा इसकी असफलता के कारणों का विवेचन।

राष्ट्रत्व की परिभाषा

राष्ट्र और राष्ट्रीयता के विषय में सैद्धान्तिक चर्चा उस समय प्रारम्भ हुई जब इनके अस्तित्व को एक युग हो चुका था और इतिहास निर्माण में इनकी जीवन्त शक्ति का परिचय मिल चुका था। पश्चिमी राजनीतिज्ञों का ध्यान इस ओर विशेषकर, उस समय गया जिस समय फ्रांस की क्रान्ति के बाद राष्ट्रीयता के उमड़ते बवण्डर ने यूरोप का नक्शा बदलना प्रारम्भ कर दिया। तभी उन्होंने यूरोप के विभिन्न भागों में प्रचलित राष्ट्रीय आन्दोलनों का विश्लेषण कर राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों पर मत प्रकट करने आरम्भ किये।

प्रो० होलीकोम के मतानुसार, "राष्ट्रीयता विशिष्ट मातृभूमि से सम्बन्धित सामूहिक भावना, एक सहानुभूति तथा परस्पर संवेदना की वृत्ति है जो एक विशिष्ट भू-भाग से सम्बन्ध रखती हो। इसका जन्म

अतीत की सफलताओं, गौरव, विपत्ति और दुःख की सार्वजनिक स्मृतियों से होता है।"

बर्जेस के मतानुसार, "एक ही भू-खण्ड में रहने वाले लोगों के समूह को राष्ट्र कहते हैं, जिनकी भाषा, साहित्य, रीति-रिवाज एक समान हों और उचित-अनुचित के प्रति जिनकी समान जागरूकता हो।"

ब्लंटश्ली के मतानुसार "विभिन्न व्यवसायों और सामाजिक स्तर के व्यक्तियों का ऐसा समूह, जिसकी वंशगत चेतना, भावना तथा जाति समान हो, जिनकी भाषा एक हो तथा परम्पराएँ समान हों, जो उन्हें एकता के सूत्र में पिरोकर राज्यनिरपेक्ष रूप में सभी विदेशियों से पृथक् अस्तित्व दे।"

गैटल के मतानुसार, "राष्ट्र ऐसा जन-समूह है, जिसकी जाति, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज और इतिहास एक ही हो। इनसे जन-समूह में एकता की भावना पैदा होती है और वह उन्हें राष्ट्रीयता के सूत्र में पिरो देती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं तथा वास्तविक अनुभव के आधार पर किसी जन-समूह को राष्ट्र का नाम देने के लिए उनमें निम्नोक्त पाँच बातों की एकता का होना नितान्त आवश्यक समझा जाता है—

१. देश, २. जाति, ३. भाषा, ४. संस्कृति तथा ५. धर्म।

रैनन तथा सर अर्नेस्ट बार्कर जैसे कुछ अन्य विचारकों ने राष्ट्रीयता की दार्शनिक रीति से व्याख्या की है। रैनन के मतानुसार, "राष्ट्र एक आत्मा है, जिसकी जड़ें मनुष्य के हृदय की गहराइयों में हैं न कि उन पाँच एकताओं में। वे तो इसके सहायक तत्त्व मात्र हैं।" उसके मतानुसार, "दो वस्तुएँ जो वास्तव में एक ही हैं, इस आत्मा का निर्माण करती हैं। उनमें से एक अतीत की होती है तथा दूसरी वर्तमान की। पहली जन-साधारण की समान बपौती है और दूसरी साथ रहने तथा साँझी पैतृक देन का अधिकाधिक उपभोग करने की बलवती इच्छा है। व्यक्ति के समान ही राष्ट्र भी चिरकाल के परिश्रम, त्याग और अनुराग का फल है। क्योंकि हमारे वर्तमान अस्तित्व का आधार हमारे

पूर्वज ही हैं। अतः उनका गुणवाद सर्वथा उचित ही है। राष्ट्रीयता के विचारों की खोज में वीरोचित अतीत महापुरुषों का स्मरण तथा वास्तविक गौरव हमारी सम्पत्ति होनी चाहिए।"

सर अर्नेस्ट बार्कर इस विषय में अधिक स्पष्टता बताते हैं। वे राष्ट्र की एक जीवित शरीर के रूप में तुलना करते हुए कहते हैं कि इस शरीर के दो मूल आधार हैं, एक है बाह्य शरीर जो एक सीमाओं से घिरा देश के रूप में प्रकट होता है और दूसरा आत्मा जो जनसाधारण की संस्कृति, भाषा, रीति-रिवाजों और आकांक्षाओं के रूप में मिलकर राष्ट्र की आत्मा का निर्माण करता है। जिस प्रकार अस्थि और चर्ममिश्रित शरीर में प्राणों का होना अनिवार्य है, ठीक उसी प्रकार किसी राष्ट्र के लिए इन दोनों का होना भी परमाश्यक है।

यद्यपि इन सब कारणों एवं एकताओं का राष्ट्रीयता की कल्पना में अच्छा महत्व है तथापि प्रत्यक्ष अनुभव में इसके कुछ अपवाद भी मिलते हैं। राष्ट्र के विकास में इन सब का योग जानने के लिए इनका अलग-अलग मूल्यांकन करना आवश्यक है।

देश

यह निर्विवाद सत्य है कि राष्ट्र बनने के लिए किसी जनसमूह के पास प्राकृतिक सीमाओं से युक्त क्षेत्र का होना परमावश्यक है। ऐसा क्षेत्र उस राष्ट्र का भौतिक आधार होता है। बिना देश के राष्ट्र की कल्पना विचारणीय नहीं हो सकती। जो दशा मुस्लिम अरबों के द्वारा निकाले जाने पर यहूदी तथा पार्सियों की हुई, ठीक वही दशा उन लोगों की होती है, जिनका अपना कोई देश नहीं होता और न ही उनको राष्ट्र कहा जा सकता है, चाहे उनमें अन्य सभी एकताएँ विद्यमान हों। दूसरी ओर जिनके पास अपनी भूमि है तथा अपनी सरकार है वे दूसरी एकताओं को प्राप्त कर राष्ट्र बन जाते हैं। यू० एस० ए०, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया इस तथ्य

—२

और राष्ट्र शब्दों को समानार्थक भी मान लिया जाता था। किन्तु मानव-जाति-सम्बन्धी विद्या के हाल ही के अध्ययन से यह पता चलता है कि उसका आधुनिक राष्ट्रों के निर्माण में बहुत थोड़ा हाथ है। अधिकतया ये राष्ट्र उन अनेकों मानव-जातियों के सम्मिश्रण से बने हैं, जो कालचक्र के अनुसार शनैः-शनैः संसार के सभी हिस्सों में मिल गई हैं। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ी राष्ट्र आईबेरियन, रोमन और ऐंग्लो-सैक्सन आदि अनेकों जातियों का सम्मिश्रण है।

परन्तु समान जातीय भावना, समान गुण-दोष, जो पहले भले ही किसी एक जाति-विशेष के गुण-दोष रहे हों, पर जिन्हें समय पाकर किसी राष्ट्र में सम्मिलित सभी जातियों ने अपना लिया हो, पर आधारित जातीय एकता का राष्ट्र निर्माण में महत्त्वपूर्ण भाग रहता है। उदाहरण के लिए, इंगलैण्ड की ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने अंग्रेज़ों के जीवन तथा प्रकृति को अधिकतया प्रभावित किया है। इसी ने इंगलैण्ड को नाम और भाषा दी है। इस कारण यह अंग्रेज़ों की मातृजाति कहलाने का दावा कर सकती है। ऐंग्लो-सैक्सन जाति के बिना अंग्रेजी राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार भारत में भी आर्य जाति को मातृजाति का स्थान प्राप्त है। अनेक जातियों तथा उपजातियों से बने भारतीय जनों को भारतीयता में ढालने का कार्य आर्य सभ्यता तथा आदर्शों ने किया है। इस प्रकार जातीय एकता को केवल वैज्ञानिक अथवा प्राणी विद्या विषयक अर्थ में लेने पर हम इसे राष्ट्र के विकास में प्रमुख कारण नहीं मान सकेंगे। किन्तु एक समान जाति-भावना के रूप में आधुनिक सभी राष्ट्रों में इसका महत्व असंदिग्ध है, क्योंकि इससे सर्वसाधारण की भाषा, सभ्यता और परम्पराओं का विकास होता है। ऐसे तत्त्व जो किसी देश की मातृजाति में विलीन नहीं हो पाये अथवा जो जातीय चेतना का विकास नहीं कर पाये, वे वहाँ जातीय तत्त्व बनकर रह जाते हैं। यदि वे मातृजाति और उसके जीवन-दृष्टिकोण को ही समाप्त

कर दें तो बात और है जैसा कि मुस्लिम अरबों ने सातवीं सदी में मिस्र में किया था। आज मिस्र के लोग अरब जाति के अंग माने जाते हैं। उनकी मूल जातीय विशेषताओं, भाषा और सभ्यता का उसी तरह अन्तर्लोप हो गया है, जिस तरह इंगलैण्ड में केल्टों का ऐंग्लो-सैक्सन जाति में हुआ था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी राष्ट्र के निर्माण में उसके अन्तर्गत सर्वप्रमुख जातीय अंश का भी बहुत बड़ा महत्व है क्योंकि उसकी भाषा तथा संस्कृति से प्रभावित समान जातीय चेतना उस राष्ट्र की राष्ट्रीय संस्कृति के रूप में अभिव्यक्त होती है।

संस्कृति

संस्कृति एक व्यापक शब्द है। इसका उपयोग विशिष्ट जीवन-दर्शन सामाजिक आदर्श, कलात्मक रीतियाँ, बौद्धिक विकास, ऐतिहासिक सफलताएँ और अतीत की स्मृतियों का परिचायक है। धार्मिक विश्वास और जीवन-दर्शन भी संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। देश और काल की सभ्यता का इससे गहरा सम्बन्ध है। स्वाभाविकतया वे ही कला, साहित्य तथा दर्शन-जीवन पर स्थायी प्रभाव डालती हैं, जिनमें असाधारण विशेषताएँ होती हैं। वे ही उनके विशिष्ट जीवन-मूल्यों की प्रतीक समझी जाती हैं। भारतीयों और अंग्रेज़ों के साहित्य-क्षेत्र में कालिदास और शेक्सपियर सफलता की सीमा-रेखा को पार कर गये हैं, इसी से वे अपने-अपने देश में सांस्कृतिक प्रतीक बन गये हैं।

कभी-कभी जन-समुदाय की संस्कृति पर उसके धर्म का बहुत प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ ईसाइयत और इस्लाम अपने अनुयायियों के जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित करते रहे हैं। यही कारण है कि कई बार ईसाई अथवा मुस्लिम संस्कृति की चर्चा सुनने को मिलती है। किन्तु राष्ट्र-चेतना के विकास के साथ-साथ अब राष्ट्रीय संस्कृतियाँ भी पनपने लगी हैं। फलतः हम ईसाई अथवा मुस्लिम संस्कृति की अपेक्षा

जर्मन, फ्रेन्च एवं तुर्क संस्कृति के विषय में अब अधिक सुनते हैं।

समान संस्कृति का विकास और इसके द्वारा पनपने वाली सांस्कृतिक एकता की भावना राष्ट्र के निर्माण का कारण और कार्य दोनों हैं। यू० एस० ए० का उदाहरण सामने है। एक अलग राज्य बनकर राष्ट्र कहलाने के कारण ही वहाँ अमेरिकन संस्कृति का विकास हुआ। किन्तु इसके विपरीत जर्मनी और इटली में समान संस्कृति, परम्परा और भाषा ने उन्हें एकता प्रदान करके राष्ट्रीय राज्य की प्रतिष्ठा दी।

संस्कृति चाहे कभी और कैसे पनपे किन्तु राष्ट्रीयता के निर्माण में उसका प्रमुख प्रभाव पड़ता है। संस्कृति ही राष्ट्र बनने की इच्छा को जन्म देती है। यही कारण है कि इसे राष्ट्र की आत्मा कहा जाता है। सांस्कृतिक एकता से राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है। जिस राष्ट्र में सांस्कृतिक एकता का अभाव है, उसकी राष्ट्रीय एकता को आज या कल धक्का लगना अवश्यम्भावी है।

भाषा

भाषा को भी राष्ट्र-निर्माण में एक पृथक् साधन माना जाता है। भाषा मनुष्य के मस्तिष्क के विचारों की वाहक होती है। जर्मन दार्शनिक फित्शे ने बहुत समय पहले कहा था—"भाषा के निर्माण में मनुष्य का इतना हाथ नहीं जितना कि मनुष्य के निर्माण में भाषा का है।"

मनुष्य का मानसिक दृष्टिकोण बनाने में भाषा का सबसे महत्वपूर्ण योग होता है। जीवित भाषा राष्ट्र के जीवन-दर्शन को प्रकट करने में समर्थ होती है। कहावत है—"भाषा का नाश कर दो तो राष्ट्र स्वयमेव नष्ट हो जायेगा।" यही कारण है कि भारत में अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए अंग्रेजों ने भारतीयों पर अपनी भाषा थोपने का भरसक प्रयत्न किया। अरबों ने मिस्र में अपनी भाषा का प्रचार कर फेरोह के प्राचीन मिस्र का अस्तित्व ही मिटा दिया।

यू० एस० ए० जैसे नये देशों में, वहाँ यूरोप के विभिन्न भाषाभाषी प्रवासी बिखरे पड़े थे, सर्वसुगम अंग्रेज़ी भाषा ने उनमें एकसूत्रता का संचार कर उन्हें एक राष्ट्र बना दिया है। इससे राष्ट्र-निर्माण में भाषा का महत्व सिद्ध होता है।

स्विटज़रलैंड इसका अपवाद है। जर्मन, फ्रांसीसी तथा इटालवी इन तीन भाषाओं के प्रयोग करने पर भी वह एक सुदृढ़ राष्ट्र है। वहाँ कुछ ऐसी परम्पराएँ एवं विधियाँ प्रतिष्ठित हो चुकी हैं, जो उनके भाषा के अन्तर को गौण बना देती हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें किसी ऐसी परिस्थिति का भी सामना नहीं करना पड़ा, जिससे उनकी राष्ट्रीय एकता की परीक्षा होती। उस राष्ट्र का मुख्य आधार राजनीति है, उसके पड़ोसी देशों को, जो उसे अपना साँझा क्रीड़ास्थल समझते हैं, उसका अस्तित्व अखरता नहीं। इसलिये यह एक ऐसा राष्ट्रीय राज्य है, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठपोषण प्राप्त है।

किन्तु इस तथ्य से कभी भी विमुख नहीं हुआ जा सकता कि राष्ट्र-निर्माण में भाषा एक प्रभावशाली माध्यम है। देश की साहित्यिक निधियों के रूप में राष्ट्रीय संस्कृति के विकास में इसका प्रमुख स्थान है।

धर्म

इतिहास साक्षी है कि धार्मिक एकता ने सामूहिक चेतना को जगाने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। यूरोप के अधिकांश देशों में अभी तक भी धार्मिक एकता को उस प्रचण्ड शक्ति का रूप प्राप्त है, जिसने उन्हें एक सूत्र में पिरोया है। यही कारण है कि धार्मिक एकता के लिये वे लोग सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

परन्तु वैज्ञानिक चेतना का विकास एवं धार्मिक उदारता बढ़ जाने के कारण पश्चिम के अधिकांश देशों में धर्म राष्ट्र-निर्माण में प्रमुख नहीं रह गया है। वहाँ अब इसका सम्बन्ध अन्य चेतना से ही अधिक बढ़ता जा रहा है। एक मनुष्य राष्ट्रीय दृष्टि से चाहे वह जर्मन हो, अंग्रेज हो

बदल जाता है। वह भूल जाता है अपने पूर्वजों को, वीर पुरुषों को, इतना ही नहीं राष्ट्रीय महत्व की प्रत्येक वस्तु को वह भूल जाता है। धर्म के साथ-साथ उसकी राष्ट्रीयता भी बदल जाती है।

ऐसा भी समय आ सकता है कि जब मुस्लिमों में भी धर्म केवल उपासना-विधि ही रह जाय। कमाल अता तुर्क ने टर्की में इसका प्रयास भी किया था, किन्तु अधिकतर मुस्लिम राज्यों में अभी भी राष्ट्रीय चेतना की अपेक्षा धार्मिक चेतना अधिक बलवती है। हिन्दुस्तान-जैसे अमुस्लिम देश में रहने वाले मुसलमानों के विषय में तो कहना ही क्या।

इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म का स्थान जहाँ केवल उपासना-विधि तक ही सीमित नहीं है, वहाँ वह राष्ट्र-चेतना में प्रमुख स्थान पाता रहेगा; किन्तु जहाँ ऐसा नहीं है, वहाँ राष्ट्र-निर्माण में वह उतना प्रभावी तत्त्व नहीं रहा है।

साधारणतया संस्कृति, भाषा और धर्म तीनों का राष्ट्र-निर्माण में सम्मिलित योगदान रहता है। कुछ समय पूर्व से ही इन तीनों का अलग-अलग मूल्यांकन किया जा रहा है। वे संयुक्त रूप में ही राष्ट्र की आत्मा अथवा आध्यात्मिक आधार की स्थापना करते हैं। वास्तव में वे राष्ट्र की जीवन-शक्ति के प्रेरक हैं, राष्ट्र-निर्माण के आदर्श एवं आकांक्षा हैं। आत्म-चेतना को भूलकर कोई भी राष्ट्र अपनी विशिष्टताओं को स्थिर नहीं रख सकता।

कुछ आधुनिक कारण

कुछ आधुनिक विचारक उपरलिखित पाँच तत्त्वों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी सामूहिक चेतना के जागरण में आर्थिक और राजनीतिक कारणों का अधिक हाथ मानते हैं। इसी मान्यता के आधार पर कार्लमार्क्स ने संसार के श्रमिकों की एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। किन्तु वर्तमान तथा अतीत के अनुभव इस सिद्धांत का खण्डन करते हैं।

बहुत देर नहीं हुई, जब जर्मन मजदूरों ने रूसी मजदूरों से दो बार लड़ाई की। सुडेटन जर्मन और ज़ैक लोगों के एक समान आर्थिक हित होने पर भी उनमें एकता न हो सकी। रैनन के कथनानुसार सत्य तो यह है कि जनसाधारण के आर्थिक हितों के आधार पर 'व्यापारिक सन्धियाँ' तो हो सकती हैं किन्तु राष्ट्र नहीं बन सकता। राष्ट्र-निर्माण में देह और प्राण का अनिवार्य संयोग है और इसका भावनात्मक पक्ष आर्थिक पक्ष की अपेक्षा बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। स्वदेशानुराग राष्ट्रीय भावना से पनपता है और देश को सुरक्षित रखता है किन्तु उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। गत महायुद्ध के समय साम्यवादी रूस का भी यही अनुभव रहा है।

राजनीतिक कारणों के विषय में भी यही सत्य है। राष्ट्रीय चेतना और एकता के लिए किसी एक सरकार के अधीन मिलने वाली राजनीतिक एकता महत्वपूर्ण है। किन्तु यह केवल एक सहायक का कार्य कर सकती है। इसे आधार नहीं बनाया जा सकता। ये एकताएँ राष्ट्रीयता की वृद्धि में सहयोग प्रदान करती हैं। इन एकताओं के अभाव में, विशेषतया जन-तन्त्रीय शासन में, राजनीतिक एकता संघटन की अपेक्षा विघटन में ही सहायक होती है। यूरोप और भारत का अभी हाल ही का इतिहास इसका उदाहरण है।

यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय एकता के मूल आधारों में से सभी का होना परमावश्यक नहीं। वर्तमान कई राष्ट्रों का उदाहरण हमारे सम्मुख है, जहाँ सभी एकताएँ विद्यमान नहीं हैं। ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ एक की अपेक्षा दूसरी एकता ने राष्ट्र-निर्माण में अधिक योग दिया है।

परन्तु इन सब में एक राष्ट्र होने की सजगता और पूर्णनिष्ट सामूहिक चेतना, जो अन्य सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक निष्ठाओं से, समय आने पर प्रतिस्पर्धा में सबलतर सिद्ध होने की क्षमता रखती हैं, अवश्य विद्यमान रही हैं। यही उनके राष्ट्रीयत्व का मूल प्रमाण है।

: ३ :

भारतीय राष्ट्रीयता के ऐतिहासिक मूल

भारत का इतिहास तथा संस्कृति का अध्ययन करने से पता चलता है कि राष्ट्रीयता के लिए जिन आवश्यक तत्त्वों की विवेचना की गई है, वे यहाँ सदा ही विद्यमान रहे हैं। यह बात सर्वथा निराधार एवं तथ्य-हीन है कि भारतीय राष्ट्रीयता का अभी-अभी उदय हुआ है अथवा यह पाश्चात्य विचारों का प्रतिफल है। राष्ट्रीयता की भावना भारतीयों में चिरकाल से ही रही है। यही कारण है कि भारत जैसे विशाल एवं विविधता से परिपूर्ण देश की एकता अभी तक स्थिर रह सकी है। एकता की यह चेतना ही भारतीय राष्ट्रीयता का मूल है।

भारतीय राष्ट्रीयता की स्पष्ट कल्पना इससे लक्षित होती है कि भारतीय जन भारत को भारतीयों का देश मानकर उसके प्रति श्रद्धा का भाव रखते हुए स्वयं को गौरवान्वित समझते हैं। भारत की सारी परम्पराएँ, साहित्य—वह चाहे धार्मिक हो अथवा लौकिक—देश के प्रति भारतीय जनों के आदर तथा गौरव की भावनाओं से ओत-प्रोत हैं।

भारत हमारी मातृभू तथा पुण्यभू है, इस प्रकार के ज्ञान का, धर्म और जाति के भेद-भाव के बिना विकास भारतीयों में इतिहास के प्रारम्भ से ही हुआ है। हमारा प्राचीन वैदिक साहित्य वैदिक आर्यों द्वारा अपनी मातृभूमि की स्तुति से गाये गए मन्त्रों से भरपूर है। ऋग्वेद के पृथ्वी सूक्त

में भूमि की माता के रूप में वन्दना की गई है। देश के लिये राष्ट्र शब्द का प्रयोग भी सर्वप्रथम ऋग्वेद में ही मिलता है।

आर्यों का विस्तार

प्रारम्भ में आर्यों की भूमि और मूल स्थान भारत के उत्तर-पश्चिमी भागों तक ही सीमित माना जाता है। ऋग्वेद में इसको 'ब्रह्मावर्त' अथवा 'सप्तसिन्धु'—अर्थात् सात नदियों का देश कहा है। जब आर्य पूर्व की ओर बढ़े और सारा उत्तर-भारत उनके प्रभाव में आ गया, तब इस सारे भू-भाग को आर्यावर्त नाम दिया गया। किन्तु आर्यों का प्रसार यहीं पर समाप्त नहीं हो गया। शीघ्र ही विन्ध्याचल को पार कर समस्त दक्षिण-भारत को उन्होंने आर्यत्व की शिक्षा दी।

भारतवर्ष

इस प्रकार आर्य संस्कृति के दक्षिण-भारत तक प्रसार हो जाने से इस समस्त देश के लिये आर्यावर्त नाम अनुपयुक्त प्रतीत हुआ। क्योंकि दक्षिणी लोग आर्य जाति के नहीं थे, इसलिए सम्पूर्ण देश के लिये इस नाम का उपयोग यथार्थ नहीं था। अतः जातीय एकता की अपेक्षा सांस्कृतिक तथा राजनीतिक एकता के बोधक नाम की आवश्यकता प्रतीत हुई। वह नाम है भारतवर्ष। भारतीय परम्परा के अनुसार, जिसने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक फैले हुए समस्त देश को संगठित कर राज्य किया, उस चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर इस नाम का प्रचलन हुआ। कालान्तर में किसी वर्ण, धर्मादि को विशेषता न देते हुए सभी भारत-वासियों को भारतीय कहा जाने लगा।

'विष्णु पुराण' में इस तथ्य की स्पष्ट विवेचना इस प्रकार की गई है—

> उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
> वर्षं तत् भारतं नाम भारती यत्र संतति॥

अर्थात् महासागर से उत्तर तथा हिमालय से दक्षिण की ओर फैले हुए इस देश का नाम भारतवर्ष है, जहाँ भारत की सन्तान निवास करती है।

इसके अतिरिक्त इसमें भारत के भौगोलिक आकार तथा मुख्य नदियों एवं पर्वतों का भी वर्णन है। उसमें महेन्द्र, मलय, सह्य, सूक्तिमत, रिक्षा, विन्ध्य तथा पाणिपत्रादि पर्वतों का उल्लेख आता है। उसमें यह भी लिखा है कि भारत के पूर्व में असभ्य किरात, पश्चिम में यवन और मध्य में आर्य लोग निवास करते हैं।

'वायु पुराण' में इससे भी विस्तार में लिखा है। उसमें भारत का ठीक-ठीक आकार दिया गया है—

योजनानां सहस्रं तु द्वीपोयं दक्षिणोत्तरम्।
आयतो ह्याकुमारिक्यादागंगा प्रभवांच्य यः ॥

अर्थात् उत्तर में गंगा के उद्गमस्थल से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैले हुए इस द्वीप की लम्बाई का एक सहस्र योजन है।

हिन्दू और भारतीय उच्चारण

इसके पश्चात् जब पश्चिम के लोग, पारसी और ग्रीक भारत के सम्पर्क में आये तो इसके प्रथम भौगोलिक चिह्न सिन्धु के नाम पर इन लोगों ने इसे कई नये नाम दिये। परसियन लोग सिन्धु का उच्चारण हिन्दू करते थे। संस्कृत का 'स' फारसी में 'ह' के रूप में उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार सिन्धु के इस देश को उन्होंने हिन्दुस्थान और यहाँ के निवासियों को हिन्दू कहना प्रारम्भ किया। उसके बाद जब ग्रीक लोग यहाँ आये तो उन्होंने अपनी उच्चारणानुसार सिन्धु को इण्डस तथा भारत को इण्डिया कहना प्रारम्भ किया एवं यहाँ के निवासियों को इण्डियन। इस प्रकार भारतवर्ष और उसके निवासियों के लिए इण्डिया तथा इण्डियन और हिन्दुस्तान तथा हिन्दू नामों का प्रथम प्रयोग प्रारम्भ हुआ। स्वाभाविक ही यूरोपियनों में ग्रीक नाम अधिक

प्रचलित हुए और तदनुसार वे आज भी इन्हीं नामों का प्रयोग करते हैं। किन्तु फारसी नाम सिन्धुस्थान अथवा हिन्दुस्थान और सिन्धु अथवा हिन्दू पर्याप्त समय तक प्रचलित रहे तथा आज भी इनकी मान्यता है। इन नामों की पृष्ठभूमि में जाति अथवा धर्म की अपेक्षा भौगोलिकता की छाप अधिक है। अतः इनमें साम्प्रदायिकता की गन्ध का लाना सरासर गलती है।

भारत राष्ट्र, इण्डियन नेशन अथवा हिन्दू राष्ट्र तीनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। जो इण्डियन कहलाने में गौरव और हिन्दू कहलाने में लज्जा का अनुभव करते हैं, वे या तो अपने अतीत के विषय में कुछ भी नहीं जानते या स्वयं को अभी तक भी अंग्रेज़ी की मानसिक दासता से मुक्त नहीं कर पाये हैं। यह मानसिक दासता का ही लक्षण है कि अपने मूल नामों का तिरस्कार कर विदेशियों द्वारा प्रदत्त नाम की ही महिमा बखानी जाय।

समस्त भारत को एक देश के रूप में मानना केवल भौगोलिक कल्पना नहीं है। आदिकाल से भारतीयों के हृदय में देश के प्रति श्रद्धा एवं आदर के भाव भरने के निरन्तर प्रयत्न होते आये हैं। इस श्रद्धा का स्पष्ट उदाहरण हमें महर्षि वाल्मीकि द्वारा लिखित रामायण में मिलता है, जिसमें उन्होंने श्री रामचन्द्र के मुख से कहलाया है—

अपि स्वर्णमयी लंका न मे लक्ष्मण रोचते ।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥

अर्थात्—हे लक्ष्मण, यह लंका स्वर्णमयी होने पर भी मुझे बिलकुल नहीं भाती क्योंकि जननी और जन्मभूमि मेरे लिए स्वर्ग से भी बढ़कर है।

उत्तर से दक्षिण तक फैले हुए, उपरवर्णित सात पर्वतों एवं गंगा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती, नर्मदा, गोदावरी तथा कावेरी इन सात नदियों के प्रति श्रद्धा ने भारत की एक देश के रूप में कल्पना को प्रोत्साहित किया है।

प्राचीन राष्ट्र

इस प्रकार यह सुगठित एवं सीमाबद्ध देश अति प्राचीन काल से भारतीय राष्ट्रीयता का भौतिक आधार बना हुआ है। चिरकाल से भारतीयों के मन में अपनी राष्ट्रीयता एवं अपने देश के प्रति श्रद्धा के भाव इस बात को प्रकट करते हैं कि भारतीयों के हृदयों में राष्ट्रीय भावना ने इतने पहले जड़ें जमा ली थीं, जिसकी पश्चिम के राजनीति-विशारद कल्पना भी नहीं कर सकते।

जातीय तथा सांस्कृतिक एकता ने इस राष्ट्रीय एकता की भावना को बल प्रदान किया। केवल जाति के अर्थ में जातीय एकता की भावना एक भ्रम मात्र है, प्रयोगात्मक नहीं। संसार का कोई भी देश शत-प्रतिशत जाति विशुद्धता का दावा नहीं कर सकता। भारत के विषय में भी यही कहा जा सकता है। वर्तमान भारतीय अथवा हिन्दू समाज उन अनेकों देशीय एवं विदेशीय तत्त्वों का मिश्रण है, जो कालानुक्रम से परस्पर अविछिन्न हो चुके हैं। इसलिए समस्त भारत में एक ही विरुद्ध जाति का दावा करने की हिटलर सदृश धृष्टता कोई भारतवासी नहीं कर सकता।

किन्तु जिस प्रकार ऐंग्लो-सैक्शन लोगों की जातीय विशेषताओं ने इंगलैण्ड के सभी लोगों को अपने रंग में रंग लिया है, ठीक उसी प्रकार आर्य संस्कृति ने भारत राष्ट्र में सम्मिलित सभी जातीय तत्त्वों को एक रंग में रंग डाला है, इस तथ्य को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

इन विभिन्न जातीय तत्त्वों के समावेश की प्रक्रिया बहुत रोचक है। इसके अध्ययन से भारतीय राष्ट्रीयता के विकास को भी समझने में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

किसी-न-किसी समय प्रत्येक जाति की अपनी विशिष्ट जीवन-पद्धति तथा संस्कृति अवश्य रही होगी। किन्तु जैसे-जैसे वह जाति आर्यों के सम्पर्क में आती गई और इससे पारस्परिक सम्पर्क बढ़ता गया, वैसे-वैसे

आर्यों की जीवन-पद्धति और संस्कृति उन पर छा गई। निश्चय ही द्रविड़ आदि जातियों ने इस संस्कृति-मिश्रण में योगदान किया था। उस योगदान का प्रभाव यह हुआ कि भारतीयों के जीवन में से आर्य एवं द्रविड़ संस्कृति को पृथक् पहचानना सर्वथा असम्भव हो गया। यही कहना चाहिए कि वे एकरूप हो गये।

यही दशा समय-समय पर पश्चिम से आने वाले आक्रामकों की भी हुई। वे सब भारतीय जीवन-प्रवाह में विलीन होते गये। आज इस प्रवाह में से उनके अस्तित्व को पृथक् करना सर्वथा असम्भव है। उनकी श्री गंगा की सहायक नदियों से तुलना की जा सकती है, जिनका पानी संगम होते ही गंगाजल हो जाता है, केवल नाम में ही नहीं अपितु गुण-धर्म में भी।

भारतीयों की यह सांस्कृतिक एकता कई भाँति प्रकट होती रही है। इसका ठोस प्रमाण भारत के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक फैले हुए वे पवित्र तीर्थस्थान, नदियाँ, नगर और पर्वत हैं, जो सभी वर्गों के लोगों के लिए, चाहे वे धनी हों अथवा निर्धन, विद्वान् हों अथवा अपढ़, समान महत्व रखते हैं।

परन्तु इस सांस्कृतिक एकता का सबसे शसक्त तथा स्थायी उपकरण यहाँ की भाषा की एकता है जो इसे संस्कृत से प्राप्त हुई है। यद्यपि आज के युग में संस्कृत साधारण बोलचाल की भाषा नहीं रही, इस पर भी यह सब भारतीय भाषाओं की जननी एवं शृंखला-सूत्र है। द्रविड़ भाषाएँ भी, जिनका विकास सीधे संस्कृत से नहीं हुआ, इससे प्रभावित हुई हैं और जहाँ तक कहा जा सकता है कि उनमें से अधिकांश भाषाओं में संस्कृत भाषा के आठ प्रतिशत से अधिक शब्द मिलते हैं।

संस्कृत में लिखा हुआ साहित्य तथा इसके महान् लेखक यथा बाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास सभी भारतीयों की साँझी सम्पत्ति हैं तथा सभी को इन पर समान गर्व है। ये हमारी संस्कृति के प्रतीक-रूप, बिना किसी जाति-भेद के, उत्तर से लेकर दक्षिण तक समान भाव से

पूजे जाते हैं। यही कारण है कि उत्तर तथा दक्षिण के सभी राजनीति-विशारद एवं विद्वान् जन एकमत होकर कहते हैं कि संस्कृत के विकास एवं पठन-पाठन को प्रोत्साहन मिलना चाहिए, जिससे यहाँ की सांस्कृतिक एकता को बल मिले।

इस सांस्कृतिक तथा भाषायी एकता की स्थापना में धर्म का कितना महत्व है, यह अपने-अपने विचार करने की बात है। धर्मों के अर्थ में जिस प्रकार इस्लाम और ईसाइयत को लिया जाता है, भारत में इस प्रकार का कोई धर्म नहीं है। बिना मोहम्मद, शरीयत और कुरान के इस्लाम की तो कल्पना नहीं की जाती। इसी प्रकार ईसामसीह और बाईबल के बिना ईसाइयत के विषय में सोचना व्यर्थ है। यह एक विशिष्ट पैगम्बर तथा ग्रन्थ-विशेष में श्रद्धाभाव ही है, जिसके कारण एक व्यक्ति ईसाई अथवा मुसलमान कहलाता है। ये मत अथवा धर्म अपने अनुयायियों से एकनिष्ठा की अपेक्षा रखते हैं।

इस प्रकार का धर्म भारत में कभी नहीं रहा। भारतीय संस्कृति और दर्शन के मुख्य स्रोत ऋग्वेद में लिखा है—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

अर्थात् ईश्वर एक है, भले ही विद्वान् जन उसे अनेकों नामों से पुकारते हों।

यही कारण है कि भारतवासियों ने सभी मतों, पूजा-विधियों एवं धार्मिक विश्वासों के प्रति उदारता तथा सहिष्णुता का दृष्टिकोण रखा है।

जिस प्रकार ईसाई और मुस्लिम देशों में आज भी धार्मिक एकता पाई जाती है और कहीं-कहीं तो वहाँ की प्रजा को बलपूर्वक उस धर्म को स्वीकार करने के लिए विवश किया जाता है, इस प्रकार की धार्मिक एकता भारतवर्ष में कभी नहीं थी। न ही यहाँ पर प्रजा को राजधर्म मानने के लिए विवश किया जाता था। भारतीयों के धार्मिक स्रोत वेदों में इस प्रकार की धार्मिक एकता को हेय माना गया है।

गया और हूण मिहिरकुल ने शैव धर्म स्वीकार कर लिया। वे सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टियों से हिन्दुत्वरूपी इस विशाल सागर में विलीन हो गये।

इतना ही नहीं पारसी तथा सीरियन ईसाई, जो अपने धर्म में कट्टर विश्वास रखते थे, ज्यों-ज्यों भारतीय जीवन-दर्शन को अपनाते गये, त्यों-त्यों वे इस प्रवाह में विलीन होते गये। भारत ने इससे अधिक किसी से अन्य कुछ अपेक्षा भी नहीं रखी। इस देश ने उनके धार्मिक विचारों को भी उसी प्रकार सहन किया, जिस प्रकार वह अन्य धर्मावलम्बियों के करता आया था।

इस प्रकार भारत में एक प्रकार की धार्मिक एकता स्थापित हो गई जिसका बल विनय एवं धार्मिक स्वतन्त्रता थी; जिसके जीवन-दर्शन एवं आचार-शास्त्र को सबने सहर्ष ग्रहण किया। यही वैदिक धर्म की उदारता थी, जिसने भारतीय समाज को विदेशी आक्रामकों को अपने में आत्मसात् करने की सामर्थ्य दिया।

यही कारण है कि ईसाई मत के प्रादुर्भाव के बहुत पहले भारत-वासियों में यह चेतना पनप चुकी थी कि सभी भारतीय एक हैं, उनका इतिहास एवं परम्पराएँ सब एक हैं। इतना ही नहीं वे यह भी अनुभव करने लगे थे कि जगद्गुरु के रूप में विश्व को सभ्यता का संदेश देने वाले भी वे ही हैं। स्मृतिकार मनु ने इस विषय में लिखा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात्—"इस धरती के ब्राह्मण पुत्रों ने अपने चरित्र से संसार के सभी मानवों को जीवन-निर्माण की शिक्षा दी।"

इससे स्पष्ट है कि भारत में ऋग्वेद-काल से ही राष्ट्रीय चेतना का संचार करने वाली शक्तियाँ विद्यमान थीं। जीवन-विकास एवं विस्तार के साथ-साथ इस चेतना में समस्त देश की एकता की भावना का भी समावेश होता गया। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैले हुए पर्वत,

राष्ट्रीय चेतना जितनी प्रबल थी, उतनी राजनीतिक क्षेत्र की नहीं। इसीलिये कई बार राजनीतिक एकता के अभाव में विदेशी आक्रामक इस देश के कई भागों पर अपना प्रभुत्व जमाने में सफल हो सके। किन्तु एकता और राष्ट्रीयता की इन शक्तियों को कालान्तर में अपने सामर्थ्य का ज्ञान हुआ और उन्होंने अपनी परम्पराओं एवं संस्कृति के अनुरूप इन विदेशियों का संस्कार कर डाला, जिससे वे सभी भारतीय अथवा हिन्दू राष्ट्र के एक अंग ही बन गये।

इस प्रकार हमारे देश भारत ने अपनी राष्ट्रीय संस्कृति और निर्मल आचरण को अनेक असुविधाओं एवं कठिनाइयों के बावजूद भी सुरक्षित रखा है। सभी विजातीय तत्त्व इसमें विलीन होते गये, सबने उसकी आत्मा और संस्कृति के रंग में अपने को रंग लिया और इसकी एक स्वर से वन्दना कर भारतीय अथवा हिन्दू राष्ट्र के अभिन्न अंग बन गये।

किन्तु इस्लाम के आगमन से भारतीय राष्ट्रीयता के इस प्रवाह में बहुत-सी बाधाएँ आने लगीं।

: ४ :

भारतीय राष्ट्रीयता और इस्लाम

सदियों तक शान्ति और प्रगति-रूपी दो किनारों में संरक्षित भारतीय जीवन-रूपी सरिता का सुन्दर प्रवाह इस्लाम के आगमन से अवरुद्ध हो गया। पहले-पहले अरब मुसलमान आठवीं सदी के आरम्भ में सिन्ध में आये। तत्पश्चात् ११वीं सदी में मुसलमान तुर्कों ने गान्धार और पंजाब में प्रवेश किया और फिर तो उनके लगातार आक्रमणों से सारा भारत ही त्रस्त हो उठा।

पाँचवीं सदी के पश्चात् शान्ति तथा समृद्धि के मोहक मन्त्र ने भारतीयों को सुख की निद्रा में सुला दिया और उनकी सजगता में इसी कारण शनैः-शनैः ढिलाई आने लगी थी। यही कारण था कि हर परिस्थिति से जूझने वाली परम्परागत क्षमता का भारतीयों में ह्रास हो गया था।

इस्लाम की चेतावनी

मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारत में एक विचित्र समस्या उत्पन्न कर दी, जिसे अब तक के विदेशी आक्रामक नहीं कर पाये थे। मुसलमानों का उद्देश्य अन्य विदेशी आक्रामकों की भाँति केवल लूटमार करना नहीं, अपितु इसके विपरीत भारत में इस्लाम का प्रचार करना था। ईरान, मिश्र तथा स्पेन-जैसे बड़े-बड़े देशों के राष्ट्र-जीवन को नष्ट कर, वहाँ पर वे अपनी धाक जमा चुके थे। भारत को भी वे उसी प्रकार

जिसने आत्मसात् कर लिया उस हिन्दू राष्ट्र को अपने अस्तित्व के लिये एक कड़ी परीक्षा और संघर्ष में डाल दिया।

सदियों की शान्ति और समृद्धि ने एक ओर तो हिन्दुओं को देश की सुरक्षा के प्रति उदासीन-सा कर दिया था और दूसरी ओर भारतीय लोग एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के अन्य देशों में किये गए मुसलमान आक्रांताओं के दुष्कृत्यों से सर्वथा अनभिज्ञ थे। वे इन्हें भी ऐसा ही आक्रामक समझते थे जैसे कि अब तक इस भारत में आये थे। अतः इन आक्रांताओं से टक्कर लेने के लिये भारत की तैयारी नहीं थी। परिणामस्वरूप प्रारम्भ में इनको कुछ राजनीतिक सफलता मिल गई। भारतीय शायद यह सोचते थे कि इनको भी वे उसी प्रकार आत्मसात् कर लेंगे, जिस प्रकार उन्होंने इससे पूर्व के आक्रामकों को कर लिया था।

किन्तु जब इन आगन्तुकों ने अपने राक्षसी पंजों से सबको दबोचना और यहाँ के राष्ट्रीय प्रतीकों को नष्ट-भ्रष्ट करते हुए हिन्दुओं के देश-प्रेम तथा उनकी पुरातन संस्कृति और आदर्शों का मूलोच्छेदन कर उचित-अनुचित सभी तरीकों से उन्हें इस्लाम को मानने पर विवश करना शुरू किया, तब हिन्दू समाज की नौका डगमगाई और उसके कर्णधार इस नयी और जटिल समस्या को सुलझाने की दिशा में गम्भीरता से विचार करने लगे।

भारी संघर्ष

निदान भारतीय राष्ट्रीयता एवं इस्लाम में संघर्ष प्रारम्भ हुआ। यह संघर्ष केवल दो सम्प्रदायों अथवा दो सामाजिक विधानों का नहीं था, प्रस्तुत भारत के राष्ट्रीय समाज और उन विदेशियों का संघर्ष था, जो इसे अपने अधीन करना चाहते थे। यही कारण है कि पहले-पहल भारतीय जनता ने इन हमलावरों को और उन सभी लोगों को जो उनके मज़हब पर ईमान लाते थे मुसलमान नहीं वरन् तुर्क कहा। तुर्क शब्द

मुस्लिम अर्थ का द्योतक नहीं वरन् एक विदेशीय स्थानिक नाम का द्योतक है। विपरीत इसके जिन भारतीयों ने इनका सामना किया उन्हें राजपूत, के परिचायक शैव, सिक्ख, जैन, पंजाबी आदि जाति, धर्म अथवा प्रदेश ब्राह्मण, नामों की अपेक्षा सदैव भारत के राष्ट्रीय नाम 'हिन्दू' शब्द से ही पुकारा गया है। आज भी भारत के अनेक भागों में मुसलमानों को तुर्क अथवा तुर्कड़ा कहकर पुकारा जाता है।

यह संघर्ष राजनीति तथा सामाजिक स्तरों पर चलता रहा। मिश्र और ईरान की भाँति राजनीतिक दृष्टि से भारत ने कभी अपनी पूर्ण पराजय स्वीकार नहीं की। किसी-न-किसी रूप में स्वाधीनता का संघर्ष जारी रहा। उसने दिल्ली के मुसलमान शासकों को चाहे वे तुर्क थे या मुगल, कभी यह अनुभव नहीं होने दिया कि उन्होंने भारतीयों की चेतना-शक्ति को अपने अधीन कर लिया है। कृषक से लेकर राजा तक, इस विशाल भारत के लोगों ने किसी-न-किसी रूप में स्वतन्त्रता का संघर्ष जारी रखा। पंजाब के खत्री और जाट, मारवाड़ और मेवाड़ के राजपूत, विजयनगर के राजा, मध्यभारत के गोंड, मराठे और सिक्ख सभी समय-समय पर इस राष्ट्रीय संघर्ष को चालू रखने के लिए मैदान में उतरते रहे। इस संघर्ष को बल प्रदान करने के लिये भारत ने इस काल में अनेक महापुरुषों, वीरों तथा सन्तों को जन्म दिया, जिन्होंने अपने महान् कार्यकलापों से भारतीय जीवन व परम्परा को उज्ज्वल किया। पृथ्वीराज, हम्मीर, कृष्णदेव राय, दुर्गावती, प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह, छत्रसाल और अन्य अनेकों ज्ञात व अज्ञात देशभक्त विदेशी सत्ता के प्रतिरोध के राष्ट्रीय प्रतीक ही बन गये और अन्त में अठारहवीं सदी के मध्य में इससे छुटकारा पाने में सफल हुए।

सदियों लम्बे संघर्ष के पश्चात् देश सँभल भी न पाया था कि अंग्रेजों ने भारत में प्रवेश किया और विदेशी सत्ता से संघर्ष की कहानी दोहरानी पड़ी और अभी कुछ ही पूर्व यह संघर्ष समाप्त हुआ है।

नौ सदियों तक चलने वाला यह स्वतन्त्रता-संग्राम भारतीय इतिहास

का एक आश्चर्यजनक पहलू है। किसी भी देश ने पराधीनता से छुटकारा पाने तथा अपने राष्ट्रीय जीवन एवं आदर्शों को सुरक्षित रखने के लिए धैर्य के साथ इतना लम्बा संघर्ष किया हो, इतिहास में इसका उदाहरण नहीं मिलता।

किन्तु यह राजनीतिक संघर्ष कदापि इतना लम्बा नहीं चलाया जा सकता था, यदि समाज और संस्कृति के क्षेत्र में भी प्रतिरोध न होता। दूसरी ओर इस सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रतिरोध को राजनैतिक संघर्ष, जिसने स्वाधीनता और देशाभिमान की भावना का उद्रेक किया, से लगातार बल मिलता रहा। इस प्रकार राजनैतिक और सांस्कृतिक संघर्ष एक-दूसरे के पूरक बने।

सह-अस्तित्व की अमान्यता

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि भारत में इस्लाम का रुख वहाँ के विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के साथ शान्तिपूर्वक रहने का नहीं था, वह तो अपने मजहब के अन्दर ही सबका समावेश कर लेना चाहता था। शान्तिपूर्वक सह-अस्तित्व की भावना के बजाय वहाँ कलहप्रिय एकान्तिक दुर्भाव था, जिससे प्रेरित होकर भारत में अपनी जीत के साथ ही मुसलमानों ने गैर-मुसलमानों पर अपने मजहब को बलात् थोपने का काम शुरू कर दिया। कुछ समय तक तो हिन्दू यह निर्णय नहीं कर पाये कि इस बवण्डर को किस प्रकार रोका जाय। किन्तु शीघ्र ही इस नई स्थिति का सामना करने के लिये तत्पर हो उन्होंने प्रत्याक्रमण शुरू कर दिया। परिणामस्वरूप उन्होंने बलात् मुसलमान बनाये गए हिन्दुओं के उद्धार के साथ-साथ इस्लाम का भारतीयकरण भी करना प्रारम्भ कर दिया। बलात् मुसलमान बनाये गए हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित करने के लिये तत्काल ही एक नई स्मृति अर्थात् (नीति ग्रन्थ) की रचना की गई, जिसका नाम देवल स्मृति रखा गया।

इस्लाम के भारतीयकरण के इस कार्य में हिन्दुओं को अत्यधिक

जन-साधारण उनसे घृणा करने लगा था तथा उन्हें नीच मानने लगा था। यही कारण है कि हिन्दू समाज ने उन्हें स्पष्टतया पृथक् करने के लिये 'म्लेच्छ' अथवा 'यवन' संज्ञा दी। सामाजिक नियम कड़े कर दिये गए और मुसलमानों के सम्पर्क को निषिद्ध घोषित कर दिया गया। एक इस प्रकार की अनुभूति हिन्दुओं में फैल गई कि नीच-से-नीच कुल का हिन्दू भी उच्च कुलीन मुसलमान से कहीं श्रेष्ठतर है।

इस्लाम के विनाशकारी हमलों का सामना करने के लिये हिन्दू समाज का यह रक्षात्मक अस्त्र सफल सिद्ध हुआ। हिन्दू समाज इस्लाम के फंदे में फँसने से बच गया। यहाँ तक कि तथाकथित अछूत हिन्दुओं ने भी अपने परम्परागत धर्म व संस्कृति के प्रति ऐसी निष्ठा का परिचय दिया, जो अलीगढ़ के प्रो० हबीब-जैसे मुसलमान इतिहासकारों के इस कथन का कि इस्लाम भारत में समता का सन्देश लेकर आया और इसी लिये यहाँ के पद-दलित व निम्नवर्ग में इसका अच्छा स्वागत हुआ, मुँह-तोड़ खण्डन है। दिल्ली और लखनऊ-जैसे मुसलमान सत्ताधारियों के गढ़ों के आस-पास रहने वाले लोग भी हिन्दू ही रहे। यह तथ्य ही इसका प्रमाण है कि हिन्दू-समाज में ऐसी जीवन-शक्ति है, जिसने इसे सदियों की यातना के बावजूद भी अपने नैतिक बल और प्रतिरोधात्मक साहस के आधार पर आज तक जीवित रखा है।

समन्वय की कड़ियाँ

परन्तु हिन्दू समाज की ओर से यथाशक्ति प्रतिरोधात्मक यत्नों के होने पर भी आर्थिक और राजनीतिक दबाव के कारण कुछ लोगों ने इस्लाम धर्म को ग्रहण किया। ऐसे लोग अकस्मात् ही पूर्णतया तो मुसलमान बन नहीं सकते थे, उनके हृदय और मस्तिष्क में इस्लाम गहरा नहीं जा सका। उन्होंने अपनी संस्कृति एवं जीवन-परम्परा का अनुकरण चालू रखा। यहाँ तक कि उन्होंने अपने प्राचीन रीति-रिवाजों तक को नहीं छोड़ा। आज से कुछ वर्ष पहले तक पंजाब तथा उत्तर-प्रदेश के प्रतिष्ठित मुसलमान

पहले हिन्दू पुरोहित द्वारा विवाह की रस्म पूरी कराने के पश्चात् मौलवी से निकाह पढ़ाते थे। इस प्रकार की मिश्रित प्रणाली एवं रीति-रिवाजों के चलन से मुसलमान शासक-वर्ग भी हिन्दू समाज की संस्कृति एवं जीवन-दर्शन से प्रभावित हो रहा था। इस प्रकार इस्लाम का भारतीयकरण प्रारम्भ हुआ।

इस कार्यधारा को रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य तथा दादू सदृश संस्कृति, श्रेष्ठता, सादगी और पवित्रता के प्रतीक सन्तों के उपदेशों ने एक नई आध्यात्मिक चेतना पैदा कर, बल प्रदान किया, जिससे जन-साधारण को आचार-विचार की एक नई दिशा मिली। इस्लाम का आतंक भी कुछ दूर हुआ और कुछ मुसलमानों के हृदय में भी हिन्दू समाज के आदर्शों एवं इसके महापुरुषों के प्रति निष्ठा उत्पन्न होने लगी।

इस्लाम का भारतीयकरण

अकबर के समन्वयवाद ने, जो इस्लाम के लिये भी विचित्र-सा ही था, इस भारतीयकरण को प्रोत्साहित किया। उसके संरक्षण में जन-साधारण की भाषा के रूप में हिन्दी भाषा का तथा यहाँ की कला, संगीत और साहित्य का विकास होने लगा। शिष्ट मुसलमानों ने भी भारतीय जीवन-दर्शन, आदर्श एवं धर्म से प्रभावित होकर इनका अध्ययन प्रारम्भ किया। मुसलमान भारतीयता से कितने प्रभावित होते जा रहे थे, इसे तत्कालीन मुस्लिम विद्वानों और कवियों ने अपनी रचनाओं में बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया है।

रजकणों को शिर पर रखने वाले गजराज को देख रहीम का श्रद्धा-भिभूत हृदय झट समझ जाता है कि वह अभिशप्त ऋषि पत्नी का उद्धार करने वाली भगवान् राम की पावन चरण-रज ही खोज रहा है—

धूर धरत निज शीश पर, कहु रहीम केहि काज।
जो रज मुनि पत्नी तरी, सो ढूंढ़त गजराज॥

स्वयं निर्माण किया था। उसने सब धर्मों को समान आदर की दृष्टि से देखा, हिन्दुओं से भाईचारा जोड़ा और उनकी संस्कृति तथा जीवन से एक प्राण होने का प्रयास किया। उसका उद्देश्य चाहे राजनीतिक लाभ ही रहा हो, किन्तु इसका मुस्लिम सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ा और इस्लाम के भारतीयकरण को प्रवाह मिला। परन्तु उलेमाओं को यह सब स्वीकार न था। अकबर के शासनकाल में ही ये लोग उनका किसी-न-किसी रूप में विरोध करने लगे थे। अकबर के दरबारी इतिहासकार बदायुनी ने हल्दी-घाटी की लड़ाई के समय अपने एक मुल्ला साथी से जब पूछा कि लड़ाई में तुम लोग यह किस प्रकार पहचानते हो कि कौन राजपूत महाराणा प्रताप का साथी है और कौन बादशाह का? इस पर मुल्ला ने जो उत्तर दिया, वह उनके इन कृत्यों का प्रमाण है। उसने कहा—"अन्धाधुन्ध मारते जाओ चाहे जो भी मरें, राजपूत ही तो कम होंगे। यह इस्लाम के फायदे की ही बात होगी।"

जो बड़े जोर से यह घोषणा करते हैं कि अकबर ने एक राष्ट्रीय शासन चलाया था, उनकी आँखें इस घटना को पढ़कर खुल जानी चाहिएँ। इतना ही नहीं अकबर के दीने-इलाही पर ईमान लाने वाले सामंतों की संख्या नगण्य ही थी और धर्मांध मुसलमानों को अपने हाथों से नचाने वाले उलेमाओं ने तो इस धर्म को कभी स्वीकार ही नहीं किया। अकबर की मृत्यु के पश्चात् मुल्लाओं ने दरबार में पुनः अपने लिये स्थान बना लिया था। अब तक उनकी इच्छा के प्रतिकूल जो इस्लाम का भारतीयकरण हो रहा था वह प्रवाह थम गया और इसके बहिष्कार की नीति कई प्रकार से प्रकट होने लगी। औरंगजेब के समय जब इस्लाम अपने वास्तविक अत्याचारी के रूप में जनसाधारण के सम्मुख आया, अत्याचार चरमसीमा पर पहुँच गये। किन्तु इसकी प्रतिक्रिया भी उतने ही वेग से हुई। अकबर के समय में भी महाराणा प्रताप के जीवन से यह स्पष्ट था कि जनता में राष्ट्रीय प्रतिरोध की भावना विद्यमान थी। उसमें क्षीणता अवश्य आ गई थी। अब यह पुनः जोर पकड़ने लगी। देश के कोने-कोने में प्रतिरोधात्मक

सजीवता समाप्तप्राय-सी हो गई थी। हिन्दू समाज यह नहीं समझ सका कि प्रारम्भिक परिस्थिति में उन्होंने मुसलमानों के बहिष्करण की जो नीति अपनाई थी, वह अब इस समय अनुपयोगी सिद्ध हो रही है। इस समय परिस्थिति यह थी कि हिन्दू-जीवन-सरिता में भारतीय इस्लाम की धारा का यत्नपूर्वक समावेश किया जाता। सम्भव था कि स्थिति के बदलने पर कालान्तर में इस्लाम के भारतीयकरण का प्रवाह जो किसी-न-किसी रूप में भारत के दूरवर्ती प्रदेशों में अब भी विद्यमान था, वेग से चलने लगता। किन्तु होनी ऐसी नहीं थी। अंग्रेज़ों के भारत में प्रादुर्भाव और राजसत्ता को हथियाने के परिणामस्वरूप, स्थिति बिलकुल ही बदल गई। इससे कई नई शक्तियाँ और विचार सम्मुख आये, जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीयता को एक नया मोड़ दिया।

: ५ :

ऐंग्लो-कांग्रेसी राष्ट्रीयता—भारतीय राष्ट्रीयता में एक विकृति

अंग्रेज़ शासन प्रारम्भ में भारतीय मुसलमानों एवं हिन्दू समाज के बीच की खाई पाटने में सहायक सिद्ध हुआ। जिन राष्ट्रीय शक्तियों ने सदियों तक दासता से मुक्ति पाने के लिये संघर्ष किया था, अंग्रेजों का बढ़ता हुआ प्रभुत्व उनके लिये तो एक चुनौती था ही, किन्तु मुसलमानों के लिये भी यह कोई प्रसन्नता की बात नहीं थी। बचे-खुचे मुस्लिम शासक अब तक कुछ-कुछ हिन्दुओं के साथ सामंजस्य करना सीख गये थे। अतः स्वाभाविक ही अंग्रेजों की अपेक्षा वे हिन्दुओं को अपने अधिक निकट समझते थे। मुसलमानों की सत्ता जाने के कारण मुल्लाओं को राज्य की ओर से संरक्षण मिलने का प्रश्न ही नहीं था। इससे वे भी इन अंग्रेज़ काफिरों को भी अपना शत्रु ही समझते थे—और उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे।

केन्द्र में एकात्मक शासन, बिना किसी जाति-भेदभाव के सेना में प्रवेश तथा सरकारी उच्च-पद प्राप्ति के लिये संस्कृत और फारसी की अपेक्षा अंग्रेजी की महत्ता इत्यादि कारणों से मुसलमानों के शासनकाल में सदियों से लुप्तप्राय-सी उच्च वर्ग के हिन्दू और मुसलमानों की परस्पर सहानुभूति की भावना कुछ-कुछ जागृत होने लगी।

सन् १८५७ की गदर कही जाने वाली विख्यात क्रान्ति वास्तव में

की कुछ अधिक उपेक्षा करने से किया। इसके विपरीत बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि बड़े-बड़े नगरों के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिन्दुओं के प्रति, जो क्रान्ति के दिनों में शान्त रहे थे, उन्होंने अपना कुछ झुकाव दिखाना शुरू किया।

गदर से पाठ

परन्तु अंग्रेज़ों को यह समझने में समय नहीं लगा कि उनको चुनौती देने वाले हिन्दू ही हैं। भारत के राष्ट्रीय समाज के रूप में हिन्दुओं ने ही विदेशी शासकों से संघर्ष किया था और हिन्दुओं ने ही क्रान्ति के समय सर्वाधिक दृढ़ता का परिचय दिया था। यद्यपि उस समय दिल्ली और लखनऊ के शासकों तथा उलेमा लोगों ने जन-साधारण को अंग्रेज़ों के विरुद्ध भड़काने में काफी सहयोग दिया, फिर भी नाना साहब कुँवरसिंह, लक्ष्मी बाई और तांत्या टोपे आदि हिन्दू नेताओं ने ही वास्तव में स्थिरता के साथ अंग्रेज़ों का प्रतिरोध किया था। इससे अंग्रेज़ों ने मुसलमानों के साथ मैत्री के सम्बन्ध बनाने प्रारम्भ कर दिये, सर जौन स्ट्रैच्ये ने सन् १८७४ में इस नीति को व्यक्त करते हुए कहा कि, "इन दोनों द्वेषी जातियों का एक ही स्थान पर निवास करना हमारी राजनीतिक स्थिति की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उच्च श्रेणीय मुसलमानों के सहयोग से हमारी शक्ति बढ़ेगी ही घटेगी नहीं। जनसंख्या का अल्पांश होने पर भी वे उद्यमी हैं तथा उनके और हमारे राजनीतिक स्वार्थ भी परस्पर मिलते-जुलते हैं।"

इस नीति को अपनाते हुए ब्रिटिश शासक मुसलमानों के साथ मैत्री बढ़ाने की चेष्टा करने लगे। उनके भाग्य से शीघ्र ही सर सैयद अहमद खाँ जैसा व्यक्ति उनको सहायक-अस्त्र के रूप में मिल गया। जिस मुहम्मडन-ऐंग्लो-ओरियंटल कालेज की उसने अलीगढ़ में स्थापना की थी, वह बैक और आर्किबाल्ड-जैसे अंग्रेज़ प्रिंसिपलों के संरक्षण में शीघ्र ही उच्चवर्गीय मुसलमानों को ब्रिटिश-नीति के हिमायती और प्रचारक बनाने का

सर ए० ओ० ह्यूम ने तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड डफरिन के आशीर्वाद से १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की।

इस प्रकार प्रारम्भ में यह कांग्रेस ब्रिटिश शासकों से संरक्षित अंग्रेज़ी भावापन्न हिन्दुस्तानियों की संस्था मात्र थी। इसके प्रारम्भ के अध्यक्षों के भाषणों को पढ़ने से स्पष्ट पता चलता है कि इसका उद्देश्य भारत में अंग्रेज़ी राज्य को स्थिर करना था।

किन्तु कुछ वर्षों बाद ही कांग्रेस ने अपने प्रवर्त्तकों द्वारा निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन कर ब्रिटिश सरकार को भी खरी-खरी सुनाना प्रारम्भ कर दिया। अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण कुछ भारतीय अपनी भारत-भूमि से उच्छिन्न अवश्य हो गये थे, किन्तु वे यूरोपीय देशों के इतिहास एवं विचारधाराओं से अप्रभावित न रह सके। पाश्चात्य विद्वानों की उदार नीति में उन्हें सार दिखाई देने लगा और उसी दृष्टि से वे भारत के विषय में भी सोचने लगे। साथ ही इनमें से अधिकांश शिक्षितों की भी यही धारणा बन गई कि भारत एक राष्ट्र नहीं वरन् जातियों का जमघट मात्र है। ऐसे लोग भारत की मूलभूत एकताओं के बारे में अपने अज्ञान के कारण, भारत को एक राष्ट्र बनाने की दृष्टि से नये आधार ढूंढ़ने लगे। इस प्रकार राष्ट्रीयता की मूलभूत एकताओं को छोड़कर समान निवास-स्थान, समान आर्थिक हितों तथा अंग्रेज़ी शासन के विरोध की भावना को आधार-स्तम्भ बनाकर भारत में एक नई राष्ट्रीयता के निर्माण का यत्न प्रारम्भ हुआ।

तिलक युग

१९वीं सदी के अन्त में अंग्रेज़ी शिक्षित भारतीयों का एक ऐसा वर्ग राजनीतिक क्षेत्र में आने लगा, जिस पर आर्यसमाज और प्रार्थनासमाज का गहरा प्रभाव था। इस वर्ग के मुख्य प्रतिनिधि थे—बंकिमचन्द्र चटर्जी, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, अरविन्द घोष और लाला लाजपतराय। उनको अराष्ट्रीय बनाने में अंग्रेज़ी शिक्षा सर्वथा असफल रही थी। वे

जानते थे कि भारतीय राष्ट्रीयता का मूलाधार क्या है। उन्होंने भारत के गौरवपूर्ण अतीत, वीरगाथाओं और इतिहास से अनुप्राणित होकर अपनी चिरयुगीन राष्ट्रीयता को पुनर्जीवित करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने जनता के सम्मुख देश को माँ के रूप में प्रतिष्ठित किया और बताया कि भारत माता ही हमारी रक्षा करने वाली माँ है। बंकिमचन्द्र ने शत्रु का विनाश करने वाली दुर्गा के रूप में, अपने प्रसिद्ध गीत वन्दे मातरम् में भारत माँ की वन्दना की है। लोकमान्य तिलक ने शिवाजी उत्सव तथा गणेश उत्सव के द्वारा लोगों को अपने इतिहास और संस्कृति के निकट लाने का प्रयास किया। राष्ट्रीयता की इस नयी लहर से भारतीय जनता, यहाँ तक कि मुसलमान भी, देश-भक्ति से प्रभावित होने लगे। उन्होंने कांग्रेस को वास्तव में राष्ट्रीयता की ओर मोड़ दिया।

अंग्रेजों द्वारा मुस्लिम लीग की सृष्टि

कांग्रेस के इस मोड़ ने अंग्रेजों को हताश-सा कर दिया। वे अपना संरक्षण तो इस पर से पहले ही हटा चुके थे, अब उन्होंने मुसलमानों का एक विरोधी दल बनाकर कांग्रेस को शिथिल करने का निश्चय किया। इसके लिये उन्होंने मुसलमानों में यह भावना जागृत करनी शुरू कर दी कि वे बादशाही खानदान के हैं, अतीत में उन्होंने हिन्दुओं पर राज्य किया था, हिन्दू उनके गुलाम रह चुके हैं। अब वे ही हिन्दू, जो उनसे निरन्तर लड़ते रहे, उनको अपने साथ कर अंग्रेज के विरुद्ध खड़ा कर रहे हैं, जिससे पुनः उनका प्रभुत्व कायम हो सके। इस प्रकार की बातों से उन्होंने मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग करने के प्रयत्न को तेज किया।

बंगाल का विभाजन कर पूर्वी बंगाल और आसाम को मिलाकर मुस्लिम-बहुल प्रान्त बनाने की योजना भी इस नीति की एक कड़ी थी। इससे भारत के सबसे बड़े मुसलमानी इलाके के सामन्ती अगुओं का उन्हें सहयोग प्राप्त हुआ। किन्तु बंगाल में इसकी जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई और इस कारण शेष भारत की भाँति बंगाल में राष्ट्रीय आन्दोलन ने

जोर पकड़ा। गीता और छत्रपति शिवाजी से प्रेरणा पाकर आतंकवादी हिंसात्मक-आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। इससे अंग्रेज बहुत आतंकित हुए और उन्होंने १९०६ में आगा खाँ की सहायता से भारत की राजनीति में साम्प्रदायिकता पर आधारित अलग मताधिकार का विनाशकारी बीज बोया। भारतीय मुसलमानों के पृथक् संगठन के रूप में 'आल इण्डिया मुस्लिम लीग' की स्थापना भी इसी वर्ष हुई।

कांग्रेस का नेतृत्व उस समय श्री गोपालकृष्ण गोखले सदृश उदारवादी व्यक्तियों के हाथों में था। वे उस समय अंग्रेज़ों की इस चाल के दुखदायी परिणाम का अनुमान नहीं कर सके। इसी कारण उन्होंने इसका कोई विरोध भी नहीं किया।

कालान्तर में शनैः-शनैः अंग्रेज़ों का संरक्षण पाकर मुस्लिम लीग दिन-प्रतिदिन प्रगति करने लगी। यह उच्च श्रेणी के मुसलमानों का तो प्रतिनिधित्व करती थी, किन्तु साधारण मुस्लिम जनता को अभी आकर्षित नहीं कर सकी थी।

१९१४–१८ की लड़ाई की शुरुआत से भारत में राजनीतिक जागृति की लहर ने ज़ोर पकड़ा। संयत व उदार मतवादियों द्वारा नियन्त्रित कांग्रेस को पीछे कर श्रीमती एनी बेसेन्ट और लोकमान्य तिलक ने होम-रूल आन्दोलन का श्रीगणेश किया। उन्होंने भारत के गौरवमय अतीत और श्रेष्ठ संस्कृति का आश्रय लेकर जनता का आह्वान किया। श्री तिलक शीघ्र ही ऐसे विख्यात राष्ट्र-नेता बन गये, जिनके पीछे जन-साधारण का बल था।

बलकान युद्ध और प्रथम महायुद्ध के फलस्वरूप अंग्रेज़ों द्वारा टर्की के सुलतान के प्रति अपनाई गई नीति के कारण भारत में अंग्रेज और मुसलमानों की मित्रता शिथिल होने लगी। उस समय टर्की के सुलतान को संसार के सभी मुसलमानों का खलीफा माना जाता था; अतः स्वाभाविक ही उसकी पराजय से भारतीय मुल्लाओं में असन्तोष फैल गया। मुल्लाओं ने मुस्लिम लीग को अपनाया और परिणाम यह हुआ कि लीग

भी अंग्रेजों की विरोधी संस्था हो गई और उसने कांग्रेस के साथ मेल बढ़ाना शुरू किया। दिसम्बर, १९१६ में लखनऊ में हुई कांग्रेस-मुस्लिम लीग सन्धि के फलस्वरूप, मुसलमानों के लिये पृथक् निर्वाचन और उन्हें विशेषाधिकार देने की शर्त पर कांग्रेस द्वारा भारत में स्वशासन की माँग का लीग ने समर्थन करना शुरू कर दिया।

मुस्लिम पृथक्वाद का प्रारम्भ

लखनऊ-सन्धि आधुनिक भारत के राजनीतिक जीवन में एक मोड़ थी। भारत में मुसलमानों के भारतीयकरण के प्रवाह को रोककर उनमें पृथक्वादी इस्लामिक भावना को जगाने की ब्रिटिश नीति को इससे प्रोत्साहन मिला।

इस सन्धि ने मुस्लिम लीग का भावी कार्यक्रम भी निर्धारित कर दिया। उसके कर्णधारों ने सीखा कि यह पृथक्वाद उनके लिये लाभकारी है। मुसलमानों की इस अनुभूति ने उन्हें भारत के राजनीति-रूपी बाजार में एक ऐसी विक्रय वस्तु अथवा एक ऐसी गणिका-सी बना दिया जिसको अंग्रेज़ और कांग्रेसी दोनों अपना बनाना चाहते थे। लीग ने यह भी समझ लिया था कि वह दोनों को बारी-बारी से निचोड़ सकती है।

इस सन्धि को स्वीकार करना कांग्रेस ने अपना राजनीतिक कौशल समझा था। भारतीय राष्ट्रीयता को पुनः जगाने और मुसलमानों को अपने में आत्मसात् करने की अपेक्षा कांग्रेस ने ब्रिटिशमेड मुस्लिम लीडरों को खुश करने के रास्ते को सरल समझ उसको अपनाया। कांग्रेस की यह मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति उसकी मिली-जुली राष्ट्रीयता के विचारों की दृष्टि से भी गलत थी। इसने मुल्लावर्ग द्वारा पोषित पृथक्करण की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया। इस नीति को अपनाने का अर्थ था सुविधा की वेदी पर सिद्धान्तों का बलिदान करना। इसकी असफलता भी निश्चित थी। राष्ट्रीय एकता के लिये विनाशकारी तत्त्व इस नीति में विद्यमान थे। मुस्लिम साम्प्रदायिकता को इससे शह मिली।

यदि कांग्रेस और देश का नेतृत्व तिलक-जैसे विलक्षण व्यक्ति के हाथ में रहता तो मुस्लिम लीडरों को राष्ट्रवादी बनाने में इस सन्धि की निश्चित विफलता से, देश भविष्य के लिए सचेत हो जाता और यह सन्धि केवल एक राजनीतिक चाल मात्र रह जाती। सन्धियों एवं समझौते से राष्ट्र-निर्माण हो सकता है, इस प्रकार का भ्रम तिलकजी के मस्तिष्क में कभी नहीं रहा। वे लखनऊ पैक्ट को महायुद्ध के कारण भयभीत ब्रिटिश सरकार पर दबाव डालने के लिए मुसलमानों की राजनीतिक चाल समझते थे, इससे अधिक और कुछ नहीं। उनकी दृष्टि में यह केवल एक प्रयोग-मात्र था, कोई स्थायी वस्तु नहीं।

गांधी का दिशा भ्रम

किन्तु ऐसा नहीं होना था। इस सन्धि के कुछ काल बाद ही कांग्रेस महात्मा गांधी के प्रभाव में आई अपनी बहुमुखी प्रतिभा के बावजूद वे यह नहीं समझ पाये कि भारतीय राष्ट्रीयता का वास्तविक मूल क्या है। १९१६ में कांग्रेस ने जिस सन्धि को नीति के रूप में बनाथा था, गांधी के नेतृत्व में वही मार्गदर्शक सिद्धान्त बन गई। किसी भी मूल्य पर मुसलमानों का सहयोग मिलना ही चाहिये, यह गांधी का नया नारा था। इसे गांधी ने भारत की स्वाधीनता के लिये प्रथम प्रयोग का रूप दिया।

मुल्लाओं में हलचल मचाने वाले खिलाफत के प्रश्न को अपनाना गांधी ने मुसलमानों के साथ मैत्री स्थापित करने के लिये आवश्यक समझा। स्पष्ट रूप से यह प्रश्न टर्की के सुलतान को इस्लाम का खलीफा मानने वाले मुसलमानों का एक मजहबी प्रश्न था। इसने अतिक्षेत्रवाद, धर्मसापेक्ष राज्य और अमुस्लिमों के विरुद्ध जिहाद के भयंकर सिद्धान्तों को बल दिया। इसकी प्रेरणा का स्रोत 'मिल्लत' और 'कुफ्र' का सिद्धान्त था जिसके अनुसार मुसलमानों के लिये देशभक्ति की अपेक्षा मिल्लत और इसके खलीफा की भक्ति अधिक महत्वपूर्ण है। अलीगढ़

मुस्लिम विश्वविद्यालय के संचालकों ने भी खिलाफत का प्रतिपादन किया। फलस्वरूप अलीगढ़ी बुद्धिवादियों और मुल्लाओं का गठबन्धन हो गया।

इस प्रकार इस विशुद्ध मज़हबी मामले में महात्मा गांधी ने भारतीय मुसलमानों का नेतृत्व सँभालने का प्रयत्न किया और कांग्रेस ने आंदोलन के अर्थभार तथा आयोजन का भार सँभाला। खिलाफत सम्मेलन बुलाये गये तथा कांग्रेस के खर्च पर खिलाफत के कार्यकर्त्ता, मुल्ला तथा मौलवियों को देश-भर में इसके प्रचारार्थ भेजा गया। इन्होंने देश के कोने-कोने में जाकर, वहाँ रहने वाले अशिक्षित तथा हिन्दुत्व स्वीकार किये हुए मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को भड़काकर गैर-मुसलमानों के प्रति उनके मन में द्वेष-भावना उत्पन्न कर इस्लाम और खलीफा के नाम पर 'जिहाद' का नारा लगाया।

इसके दो अशुभ परिणाम निकले। एक तो मुसलमानों में राष्ट्रीय चेतना की अपेक्षा इस्लामिक चेतना जागृत हुई और उनका धर्मोन्माद बढ़ने लगा, जिससे उनके भारतीयकरण का कार्य समाप्त-सा हो गया और दूसरे मुसलमानों का नेतृत्व उन्हीं मुल्ला और मौलवियों के हाथों में आ गया, जिन्होंने सदा से इस्लाम की बहिष्करण नीति और हठधर्मीपन का नेतृत्व किया है। इसका परिणाम बुरा निकला। इतिहास की पुनरावृत्ति होने लगी। मौलवियों के हाथ में नेतृत्व आते ही मुसलमानों के भारतीयकरण का कार्य बन्द हो गया। समय ने पलटा खाया और समन्वय का काल गया। यदि गैर-मुसलमान होने के कारण अंग्रेज काफिर थे तो वही स्थिति हिन्दुओं की भी थी। यदि अंग्रेजों के विरुद्ध जिहाद करना मुसलमानों का धार्मिक कर्तव्य था तो हिन्दुओं के प्रति भी यह धार्मिक कर्तव्य ही मानने योग्य था।

परिणाम यह हुआ कि उच्च वर्ग के मुसलमानों द्वारा अंग्रेजों ने जिस मुस्लिम लीग की स्थापना करवाकर उनमें पृथक्करण के सिद्धांत का बीजारोपण किया था, खिलाफत आन्दोलन से वह वृक्ष इतना बढ़

गया कि उसकी शाखा-प्रशाखाएँ समस्त भारतवर्ष में फैल गईं और एक साधारण-से-साधारण मुसलमान भी उस प्रवाह में बह गया। समस्त भारत के हितों को एक ओर रखकर मुसलमान अपने मज़हबी हितों को पूरा कराने के लिये प्रयत्नशील हो गये और इस्लामी सभ्यता और मिल्लत के राग अलापने लगे।

खिलाफत आन्दोलन को प्रेरणा एवं सहयोग देकर गांधी ने भारतीय राष्ट्रीयता को एक बहुत बड़ा आघात पहुँचाया। इससे मुसलमानों के विशेष मताधिकार की भावना को बल मिला और भारतीय मुसलमान पूर्णतया मुल्लाओं के नेतृत्व में चले गये।

परिणामस्वरूप मुसलमानों के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आया, उसका मुसलमान कवि मुहम्मद इकबाल ने बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। इस कश्मीरी धर्मान्तरित उदीयमान कवि की लेखनी से बीसवीं सदी के प्रारम्भ में राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत उर्दू कविता का स्रोत प्रवाहित हुआ था। उदाहरणार्थ—

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हिन्दी हैं हमवतन हैं हिन्दोस्ताँ हमारा॥

किन्तु खिलाफत के प्रचारक इन मुल्लाओं के उपदेशों से जब राष्ट्रीयता के स्थान पर इस्लामी चेतना विराजने लगी तो इस राष्ट्रीय कवि का मानस भी बदल गया। वह इस्लामी बहिष्करण के ही गीत गाने लगा जिसका तात्पर्य था अपने बराबर में रहने वाले गैर-मुस्लिम पड़ोसी की अपेक्षा समुद्रों पार रहने वाला मुसलमान उसका निकटस्थ है। इस मानस-परिवर्तन के परिणामस्वरूप उसने लिखा—

"मुस्लिम हैं हमवतन हैं सारा जहाँ हमारा।"

गांधी नीति के परिणाम

महात्मा गांधी की इस नीति के दुष्परिणाम १९२०–२३ में ही प्रकट होने लग गये थे। कमाल अता तुर्क द्वारा खिलाफत समाप्त करके

खलीफा को देश-निकाला दे देने से, भारत के खिलाफती मुल्ला बहुत खिन्न हुए। परिणामस्वरूप अंग्रेज़ काफिरों के विरुद्ध पैदा किये गए जिहाद की भावना की दिशा हिन्दू काफिरों की ओर मोड़ दी गई। फलस्वरूप मालाबार, कोहाट, सहारनपुर तथा अन्य कई स्थानों पर उन्होंने हिन्दुओं के खून से होली खेली। यह उस समय की घटना है जब कोकनाडा अधिवेशन के समय गांधी ने स्वयं मौलाना मोहम्मद अली को अधिवेशन से लौटने पर दिल्ली में सर्वसाधारण के सामने यह घोषणा की थी कि, "एक नीच और व्यभिचारी मुसलमान भी मेरे लिये महात्मा गांधी से बढ़कर है।" इस्लाम में निहित पृथक्वादिता का इससे अधिक स्पष्ट चित्रण क्या हो सकता था और इस कथन से गांधीजी की आँखें खुल जानी चाहिये थीं, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। गांधीजी ने इतिहास तो क्या स्वयं अपने अनुभव से भी कोई शिक्षा नहीं ली। उनका यही दुराग्रह रहा कि किसी भी मूल्य पर खिलाफती मुसलमानों का सहयोग जुटाया ही जाय। मुसलमानों को सम्मिलित करना ही उनकी राष्ट्रीयता की कसौटी बन गई थी। बड़े-से-बड़ा देश-भक्तों का दल उनके लिये प्रतिक्रिया एवं साम्प्रदायवादी था यदि उसमें मुसलमान सदस्य नहीं होता। इतना ही नहीं दूसरी ओर यदि कोई अधम-से-अधम व्यक्तियों का दल है और उसका सदस्य यदि एक मुसलमान भी है तो गांधी के लिये वह देश-भक्तों का दल था। लखनऊ से प्रारम्भ हुई मुस्लिम तुष्टीकरण की वह तत्कालीन नीति अब गांधी की कांग्रेस के लिये मौलिक सिद्धान्त बन गई।

इसके परिणाम घातक निकले। इसका प्रभाव मुसलमानों के मस्तिष्क पर वह नहीं पड़ा जो गांधीजी चाहते थे। मुस्लिम पृथक्वादी नीति को कांग्रेस ने स्वीकार किया। मुसलमान इससे इतना साम्प्रदायिक बन गया कि वह अपने सहयोग का अब मूल्य चाहने लगा। वे अब अलग मुस्लिम सभ्यता, संस्कृति तथा अलग भाषा की बातें करने लगे। सत्ता के स्वप्नों ने उन्हें विचलित कर दिया था। वे यही समझते थे कि भारत में मुसलमान अल्पमत में हैं। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि यहाँ के निवासी

सभी हिन्दुस्तानी हैं और मिल-जुलकर भी सत्ताधिकार रखा जा सकता है। वे मजहब के आधार पर अल्पमत और बहुमत के विचार में पड़ गये। अपने अतीत के शासनकाल की स्मृतियों ने उनके आशंकित मन को अधिक गर्वीला तथा साथ-ही-साथ आतंकित कर दिया। अपने राजनीतिक भविष्य की दृष्टि से भारतीय राष्ट्रवादियों की अपेक्षा वे ब्रिटिशर्स पर अधिक आश्रित रहने लगे। कांग्रेस में जो थोड़े-से मुसलमान थे, उन पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा। उनकी स्थिति हास्यास्पद-सी हो गई। परिणाम-स्वरूप उनमें से बहुतों ने कांग्रेस छोड़कर मुस्लिम लीग को अपनाया। जो थोड़े-से मुसलमान कांग्रेस में किसी कारण रह गये उन्होंने कांग्रेस के अन्दर से मुस्लिम पृथक्वादिता को बनाये रखने का प्रयत्न जारी रखा।

मुस्लिम पृथक्वादिता के जिस विषवृक्ष का अंग्रेजों ने बीजारोपण किया था, उसको पल्लवित देखकर उनकी प्रसन्नता चरम सीमा पर पहुँच गई। उन्होंने गांधी के शब्दों को पकड़ लिया और किसी प्रकार के राज-नीतिक बदल से पहले हिन्दू-मुसलमानों के आपसी समझौते की शर्त लगानी शुरू कर दी। साथ ही एक ओर जहाँ मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिये कांग्रेस अपने सिद्धान्तों का बलिदान कर उनकी अराष्ट्रीय माँगों को स्वीकार करती जा रही थी, वहाँ दूसरी ओर अंग्रेज लोग मुसलमानों को अधिक कीमत देकर भड़काते रहते थे, जिससे कि वे कांग्रेस के साथ किसी प्रकार का सहयोग न कर सकें।

हिन्दुओं में हीन-भाव का प्रादुर्भाव

निरन्तर यह सुनते-सुनते कि मुसलमानों के सहयोग के बिना स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती, हिन्दुओं में भी हीन-भाव उत्पन्न होने लगे। देश-भक्ति से ओतप्रोत हिन्दू देश की स्वतन्त्रता के लिये, गांधीनिष्ठ कांग्रेस के आदेशों पर मुस्लिम लीग की घोर अराष्ट्रीय माँगों को मानते चले गये। इस घातक तथा अराष्ट्रीय नीति की विफलता और उसके दुष्परिणामों को भाँपकर वीर सावरकर, पं० मदनमोहन मालवीय, भाई

परमानन्द और डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी प्रभृति भविष्यदर्शी महानुभावों ने कांग्रेस से बारम्बार इसे छोड़ने की प्रार्थना की। उन्होंने देश को इससे सावधान किया किन्तु उस चेतावनी का भी कोई परिणाम नहीं निकला।

राष्ट्रवादी जनता के मनों पर अपने प्रभाव की अनुभूति पा गांधी निश्चिन्त होकर मुसलमानों के सहयोग से मिली-जुली राष्ट्रीयता का प्रयोग करते रहे। बजाय इसके कि भारत की प्राचीन संस्कृति एवं परम्परा के आधार पर सुदृढ़ राष्ट्रीयता-निर्माण का कोई सफल प्रयास करें, वे मुस्लिम पार्थक्य के लिये अंग्रेजों को कोसने में लगे रहे। उन्होंने मुसलमानों की इस माँग को भी स्वीकार किया कि उनकी कोई पृथक् संस्कृति और भाषा है जो भारतीय संस्कृति एवं भाषा से पृथक् है। इतना ही नहीं मुसलमानों को खुश करने के लिये उन्होंने छत्रपति शिवाजी तथा महाराणा प्रताप सदृश देश-भक्त महापुरुषों को 'भ्रान्त देश-भक्त' कहने में तनिक संकोच एवं लज्जा का अनुभव नहीं किया। मुसलमानों की रुचि का ध्यान रखते हुए इतिहास को भी तदनुसार ही तोड़ा-मरोड़ा जाने लगा। भारतीय राष्ट्रीयता के मूल आधार भारत-भूमि तथा उसकी परम्परागत संस्कृति के प्रति आस्था की ओर दुर्लक्ष्य कर इस भाव को संकीर्ण और प्रतिक्रियावादी कहकर इसकी अवहेलना की जाने लगी।

द्विराष्ट्रवादी सिद्धान्त के मूल

उपरिलिखित कारणों ने मुस्लिम पार्थक्य को और भी परिपुष्ट कर दिया। अलग संस्कृति, भाषा और इतिहास की माँग अब पृथक् राष्ट्र की माँग की ओर बढ़ने लगी। इस प्रकार कांग्रेसी-राष्ट्रीयता विदेशियों की भारतीयकरण परम्परा के सर्वथा विपरीत उनको मुल्लाओं के हिंडोले में झुलाती रही जो भारतीय राष्ट्रीयता के मार्ग में सबसे बड़े रोड़े थे और जिनको अलीगढ़ मुस्लिम यूनीवर्सिटी में से, जिसे अपने साम्राज्य की सुदृढ़ता के लिये अंग्रेजों ने ही स्थापित किया था, लगातार बल मिलता था। मुसलमानों के लिये अलग राष्ट्र की माँग में इस यूनिवर्सिटी

का मुख्य हाथ रहा है। इस प्रकार समान देश, समान आर्थिक समस्याओं तथा ब्रिटिश राज्य के प्रति समान विरोध-भाव आदि अस्थिर तथा अवैज्ञानिक आधारों पर एक नया मिला-जुला भारतीय राष्ट्र-निर्माण करने की कांग्रेसी चेष्टाएँ न केवल सर्वथा असफल सिद्ध हुईं अपितु उनके कारण मुसलमानों में भारतीय राष्ट्रीयता से अलग मुस्लिम राष्ट्रीयता के भाव को पुष्टि मिली।

मुस्लिम लीग द्वारा प्रतिपादित द्विराष्ट्र के सिद्धान्त का मूल भारतीय इस्लाम की विदेशमुखता में है। इस्लाम की यही प्रवृत्ति रही है कि भारत के मुसलमान अपने देश, संस्कृति और महापुरुषों का सम्मान छोड़ तुर्कों और अरबों की दृष्टि अपनाएँ। भारतीय राष्ट्रीयता का कर्तव्य है कि यहाँ के मुसलमानों में भारत और इसकी संस्कृति के प्रति ऐसी आस्था उत्पन्न हो कि उनकी अलग खिचड़ी पकना ही बन्द हो जाय तथा इस्लाम भी उन अनेक पन्थों एवं मजहबों-जैसा हो जाय, जिनकी उपासना-विधियाँ विभिन्न होते हुए भी वे भारतीय जीवन और आदर्शों से परस्पर शृंखला-बद्ध हैं। यह कोई असम्भव कार्य नहीं था। जहाँ इस्लाम का राष्ट्रीयकरण हुआ इस प्रकार के चीन और इण्डोनेशिया-जैसे देशों की कथा यहाँ भी दोहराई जा सकती थी। इसके लिये हिन्दुओं की मिश्रण शक्ति को प्रोत्साहित करना उपयुक्त था।

किन्तु कांग्रेस ने विपरीत मार्ग अपनाया। यह अंग्रेजों की उस चाल का शिकार हो गई, जिसके द्वारा उन्होंने मुसलमानों के लिये पृथक्‌वाद की अति चलाई। परिणामस्वरूप कांग्रेस अपनी प्राचीन परम्परा के आधार पर एक शक्तिशाली राष्ट्र के निर्माण करने में न केवल असफल रही वरन् इसकी गलत नीति को अपनाने से उसकी जड़ें और भी शिथिल हो गईं। कांग्रेस द्वारा मुस्लिम पृथक्‌वाद की पुष्टि से राष्ट्रवादी मुसलमान भी विक्षुब्ध हुए और इसी नीति ने आगे चलकर भारत के विभाजन का मार्ग प्रशस्त किया।

: ६ :

विभाजन के पश्चात् भारतीय राष्ट्रीयता

१६४७ में मज़हब के आधार पर भारत के विभाजन को मानकर कांग्रेस ने अपनी कल्पना की भारतीय राष्ट्रीयता का दुखद् अन्त कर दिया। इससे यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रीयता के निर्माण के लिये एक-साथ निवास, एक-समान आर्थिक हित और ब्रिटिश विरोधी निषेधात्मक आधार ही काफी नहीं है। इतना ही नहीं, इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि सौदेबाज़ी समान आर्थिक हितों की दुहाई अथवा अराष्ट्रीय तत्वों के तुष्टीकरण से राष्ट्र नहीं बना करते। इनसे तो राष्ट्र-निर्माण की भावना ही दुर्बल हो जाती है। राष्ट्रीयता को दृढ़ बनाने के लिये देश और संस्कृति के प्रति निष्ठा की आवश्यकता है। केवल इन्हीं के आधार पर जाति, धर्म, भाषा आदि की विभिन्नता, समान आर्थिक हितों की रट तथा राजनीतिक गुटों-जैसी भ्रामक कल्पनाओं को नष्ट कर ठोस राष्ट्रीयता का निर्माण किया जा सकता है।

विभाजन से शिक्षा

विभाजन के पश्चात् सभी विचारशील लोगों को यह आशा थी कि कांग्रेस के सत्ताधारी नेता भारत-विभाजन से कुछ शिक्षा लेकर अपनी कल्पना की राष्ट्रीयता में निहित भूलों को समझने का प्रयास करेंगे और अपने दृष्टिकोण तथा नीतियों में भी यथोचित परिवर्तन करेंगे जिससे स्वस्थ एवं शक्तिशाली राष्ट्रीयता का निर्माण होकर शेष भारत सुसंगठित

तथा शक्तिसम्पन्न देश बन सकेगा। इस प्रश्न के विषय पर पुनः विचार करना इसलिये भी आवश्यक हो गया क्योंकि विभाजित भारत की सीमाओं पर जिस नये देश पाकिस्तान की सृष्टि हुई थी, वह भारत का जन्म-जात शत्रु होने के कारण यहाँ के मुसलमानों की राजभक्ति सहज ही डिगा सकता था क्योंकि विभाजन के पूर्व भारत में रह जाने वाले अधिकांश मुसलमानों ने भी हृदय से पाकिस्तान का ही समर्थन किया था।

भारत में उस ब्रिटिश राज का अन्त हो चुका था, जो इस पुनर्विचारणा के मार्ग में एक प्रकार से बाधा-रूप खड़ा हो सकता था। कांग्रेसी नेता अब सत्तारूढ़ थे और उचित रीति-नीति से स्थिति को समझ भारत को एक शक्तिशाली एवं निर्बन्ध राष्ट्र बनाना उनका कर्तव्य था।

पिछले अनुभवों के आधार पर एक त्रिसूत्री कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता थी—

प्रथमतः यह अत्यन्त आवश्यक था कि मुसलमान तथा उन-जैसे ही अन्य धर्मावलम्बियों के लिए पृथक् मताधिकार एवं निर्वाचन प्रणाली जो इन लोगों को भारत की मूल राष्ट्रीयता से अलग रखने के लिए अंग्रेजों ने आरम्भ की थी, को समाप्त किया जाय।

दूसरे, स्थिति की यह माँग थी कि भारत के मुसलमानों को मुल्ला-मौलाना और अलीगढ़ के विपथगामी तथाकथित शिक्षित लोगों के प्रभाव से मुक्त करने के लिए तुरन्त कोई आवश्यक पग उठाए जाएँ। ये ही वे लोग थे, जिन्होंने भारतीय मुसलमानों को जो सदियों से भारतीय जीवन के अंग बन चुके थे, हिन्दुओं से पृथक् करने में सहयोग दिया था। मुसलमानों का पृथक्वाद इन्हीं की सृष्टि थी। राष्ट्रीय सुरक्षा के विचार से भी यह आवश्यक था, क्योंकि मुस्लिम शरीयत तथा पाकिस्तानियों के विचारानुसार हिन्दुस्तान अथवा हिन्दुओं का भारत उनके लिए 'दारुल-हरब' अर्थात् शत्रु का वह देश था, जिस पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन करना प्रत्येक मुसलमान का धार्मिक कर्तव्य है। इस्लाम के संरक्षक

—५

होने के नाते मौलाना लोग इस प्रकार का प्रचार करने के लिए कर्तव्यबद्ध हैं। गैर-मुसलमान देशों में रहने वाले मुसलमानों का इतिहास इस बात को सिद्ध करता है। दि० ६-४-५४ के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार पाकिस्तान सरकार द्वारा नियुक्त 'ऐण्टी अहमदिया रौएट्स कमीशन' के सामने पाकिस्तानी मौलानाओं के वक्तव्यों से इस बात की और अधिक स्पष्ट रूप में पुष्टि होती है।

जब न्यायालय ने सैयद अताउल्ला शाह, जो खिलाफत आन्दोलन के समय कांग्रेस का अभिन्न सहयोगी था और पाकिस्तान का सम्मानित मुल्ला था, से प्रश्न पूछा कि क्या एक मुसलमान को काफिर अर्थात् गैर-मुसलमान सरकार की हुकूमत माननी चाहिए ? इस पर उसने उत्तर दिया कि "एक मुसलमान गैर-मुसलमान सरकार का वफादार कभी नहीं बन सकता।" जब विशेषतया उससे पूछा गया कि हिन्दुस्तान में रहने वाले चार करोड़ मुसलमान वहाँ के विश्वस्त नागरिक रह सकते हैं ? तो उसका उत्तर था—"नहीं।"

एक अन्य मुल्ला से यह पूछे जाने पर कि, "पाकिस्तान के साथ भारत का युद्ध होने पर भारतीय मुसलमानों का क्या कर्तव्य है ?" तो उसने उत्तर दिया कि, "उनका कर्तव्य है पाकिस्तान के पक्ष में भारतीयों से लड़ना न कि हिन्दुस्तान के पक्ष में पाकिस्तानियों से।"

और तीसरी आवश्यकता थी कि विभाजन के कारण विक्षिप्त चिरकालीन भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति निष्ठा की पुनः प्रतिस्थापना हो। इसके लिए यह आवश्यक था कि यथार्थवादी रीति से भारतीय राष्ट्रीयता के विषय पर सोचा जाय, भारत के शक्ति-स्रोतों को राष्ट्र के रूप में परखा जाय और राष्ट्रीय हिन्दू समाज को उसकी पूरी शक्ति, संस्कृति और राष्ट्रीयता के विशुद्ध रूप से परिचित कराया जाय। विजातीय तत्वों का तब तक भारतीयकरण होना सम्भव नहीं, जब तक राष्ट्रीय समाज सुदृढ़ नहीं बन जाता और राष्ट्रीय संस्कृति, आदर्शों और इतिहास का यथोचित सम्मान नहीं होने लगता।

पहली बात के विषय में भारत की संविधान सभा ने सही निर्णय किया। उसने कांग्रेस के अन्दर तथा बाहर के मौलानाओं के विरोध करने पर भी मुसलमानों तथा अन्य धर्मावलम्बियों के पृथक् निर्वाचन की प्रणाली विधानतया बन्द कर दी। उचित दिशा में उठाये गए इस पग से कांग्रेस की असावधानी से लाभ उठाकर भारत के राजनीतिक जीवन में जिस विष का ब्रिटिश सरकार ने संचार किया था, वह प्रभावरहित हो सकता था। अन्य दो विषयों पर भी कांग्रेसी नेता यदि इसी दृष्टि से विचार कर कार्य करते तो निश्चय ही विभाजन के पश्चात् भारत में सही राष्ट्रीयता का विकास हो सकता था।

किन्तु वैसा करने में कांग्रेसी नेता बुरी तरह से असफल हुए।

पृथक्वाद तथा अतिक्षेत्रवाद को छोड़कर भारतीय मुसलमान राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाएँ, यह कार्य प्राथमिक महत्त्व का है किन्तु यह सरलता से पूरा नहीं हो सकता। इस पर भी भारत-विभाजन के तुरन्त पश्चात् ही कुशलता से काम लिया जाता तो सफलता प्राप्त हो सकती थी। भारत में रह जाने वाले मुसलमानों को विभाजन के कारण उत्पन्न संकटों से जबर्दस्त धक्का लगा था। वे अनुभव करने लगे थे कि पाकिस्तान के विषय पर उनके नेताओं ने जो लालच उन्हें दिया था, वह केवल भुलावा था। पाकिस्तान को बनाने में भारत के विरुद्ध जो देशद्रोह-पूर्ण भाग उन्होंने लिया था, उससे उनकी स्थिति कुछ डाँवाडोल-सी हो गई थी। जिन मुल्ला-मौलवियों ने उनकी देश-भक्ति को नष्ट किया था, उनके प्रति मुसलमानों की निष्ठा कम हो गई थी। उन्हें उस समय पथ-विभ्रम हो गया था इससे उन्हें सहज ही मुल्लाओं के प्रभाव से दूर कर, राष्ट्रीयता की परिधि में लाया जा सकता था। उस समय उन्हें सहज ही यह समझाया जा सकता था कि पृथक्वाद उनके लिये हितकारक नहीं और उनकी भावी सुरक्षा और समृद्धि राष्ट्रीय हिन्दू समाज के साथ ही है। उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय बनाया जा सकता था।

यह सब विशुद्ध भाव से स्वाधीन भारत के निर्माता कर सकते थे।

इस्लाम को राष्ट्रीय और धर्म-निरपेक्ष बनाने के लिये उनको मुल्लाओं से पृथक् करने के लिये जब टर्की का कमालपाशा साहसिक पग उठा सकता था, जब ईरान का रज़ाशाह पहलवी भी बिना मुस्लिम-विरोधी कहलाये वैसा ही कर सकता था, तब मुल्लाओं और इस्लाम की दुष्प्रवृत्तियों से त्रस्त भारत भी बिना किसी मानसिक तथा चारित्रिक कुण्ठा या आशंका के ऐसा कर सकता था और यह आवश्यक भी था।

कांग्रेस की विफलता

किन्तु कांग्रेसी नेताओं ने विपरीत नीति को अपनाया। उन्होंने मुल्लाओं तथा मुस्लिमलीगियों को भारत के मुसलमानों का नेता मानकर पुनः उन्हें उनके नेतृत्व में कर दिया। मुल्ला और मौलवियों द्वारा संगठित जमीयत-उल-उलेमा को भारतीय मुसलमानों की मुख्य प्रतिनिधि संस्था के रूप में मान्यता दी गई।

वे मुसलमानों के प्रतिनिधि बने रहें, इसके लिये जमीयत-उल-उलेमा के नेताओं ने भी पृथक्वाद एवं साम्प्रदायिकता को मुसलमानों में पुनः भरना प्रारम्भ किया। वास्तव में जमीयत के नेता जानते थे कि सरकार में उनकी बहुत अच्छी पहुँच है अतः वे चाहें सो करा सकते हैं। इस आधार पर मुसलमानों ने भी उनको अपना नेता स्वीकार कर लिया।

कांग्रेसी नेताओं द्वारा अपनाई गई इस मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति ने स्थिति को और भी बिगाड़ दिया। मुसलमानों को कांग्रेस के अतिरिक्त किसी अन्य संस्था में जाने से रोकने के लिये तथा निर्वाचन के समय मुसलमानों के सभी मत कांग्रेस को ही मिलें, इसके लिये उन्होंने मुसलमानों के मन में हिन्दुओं के प्रति एक निर्मूल आतंक-सा पैदा कर दिया। कांग्रेसियों ने मुसलमानों को प्रेरणा दी कि वे स्वयं को भारतीय की अपेक्षा मुसलमान समझें और कांग्रेस को ही वोट देकर उसकी सहायता सदा प्राप्त करते रहें। इस पृथक्वाद और मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति को अब धर्म-निरपेक्षवाद के नाम से प्रतिपादित किया जाने लगा।

कांग्रेसियों का धर्म-निरपेक्षवाद

धर्म-निरपेक्षवाद भारत में आजकल बहुत ही गलत अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है। कांग्रेसी नेता इसकी दुहाई देते नहीं अघाते। वे कहते हैं कि भारतीय गणतन्त्र एक धर्म-निरपेक्ष गणतन्त्र है और आज की उनकी राष्ट्रीयता धर्म-निरपेक्ष एवं सम्मिश्रण की राष्ट्रीयता है। उनके इस मत से जो सहमत नहीं हैं, वे सब साम्प्रदायवादी, धर्म-निरपेक्षवाद के विरोधी तथा प्रतिक्रियावादी हैं।

किन्तु यह धर्म-निरपेक्षता है क्या ? वास्तव में यह एक ऐसी राजकीय पद्धति है, जिसका दृष्टिकोण धार्मिक न होकर मात्र भौतिक होता है। जिसका तात्पर्य है कि राजनीति का धर्म से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता। धर्म-सापेक्षता, जिसमें धर्म राजनीति से ऊपर होता है, के यह सर्वथा विपरीत है। मध्यकालीन अधिकांश यूरोपीय राज्यों में, तथा पाकिस्तान सहित वर्तमान कालीन अनेकों मुस्लिम राज्यों में, आज भी धर्म-सापेक्ष राज्य की ही प्रतिष्ठा होती है। ऐसे राज्यों में जो प्रजा शासकीय वर्ग के धर्म को नहीं मानती अथवा जिनका अपना अलग धर्म है, उनको शासकीय वर्ग के धर्मानुयायियों की भाँति सुविधायें प्राप्य नहीं हैं। यही कारण है कि पाकिस्तान का राष्ट्रपति कभी कोई हिन्दू नहीं बन सकता। इतना ही नहीं चौधरी जफरुल्ला खाँ, जो मुस्लिम रूढ़ियों के अतिरिक्त कुछ और भी मानते हैं, तक को इसी कारण पदत्याग करना पड़ा था। ऐसे नागरिक यदि वहाँ रहने की आज्ञा पा भी जाएँ तो उनको ज़िम्मी अर्थात् निम्नस्तर के नागरिक के रूप में देखा जाता है।

हिन्दू राज्य और धर्म-निरपेक्षता

भारत ही केवल एक ऐसा प्राचीन देश है, जहाँ मुसलमानों के राज्य की अवधि को छोड़कर कभी मजहबी राज्य नहीं रहा। हिन्दू राज्य सर्वदा धर्म-निरपेक्षता के आधार पर ही रहा और यहाँ के राजाओं ने कभी भी प्रजा पर अपना धर्म लादने का प्रयत्न नहीं किया। हिन्दू इतिहास यह

बताता है कि भारत में सदा धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान रही है। यहाँ तक कि मुस्लिम रूढ़िवादिता के विरुद्ध आजीवन युद्ध करने वाले शिवाजी और रणजीतसिंह-जैसों ने भी कभी अपने राज्य में रूढ़िवादिता अथवा धार्मिकता का प्रचलन नहीं किया। न तो शिवाजी ने और न ही महाराजा रणजीतसिंह ने कभी यह प्रयत्न किया कि वे प्रजा से अपना धर्म मनवावें और न धर्म के आधार पर राज्य-सम्बन्धी मामलों अथवा उच्च नियुक्तियों में कभी भेद-भाव ही रखा। शिवाजी के राज्य में कई उच्च श्रेणी के अधिकारी मुसलमान लोग थे और उन्हें मन्दिरों की भाँति ही मस्जिदों के लिए भी जागीरें दीं। इसी प्रकार फकीर अजीजदीन नामक एक मुसलमान रणजीतसिंह का अत्यन्त विश्वस्त ही नहीं वरन् उनका विदेश मन्त्री भी था।

धर्म-निरपेक्षता के इस नियम का अपवाद स्वतन्त्र भारत में केवलमात्र सम्राट् अशोक था। वही एक ऐसा शासक था, जिसने धर्म-महामात्रों द्वारा अपना धर्म प्रजा पर थोपने का प्रयत्न किया था। बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अशोक ने राजकीय कोष का बड़ी धृष्टता से दुरुपयोग किया था। प्रमुख इतिहासकार श्री रे चौधरी, श्री आर० सी० मजूमदार तथा श्री के० दत्त आदि का मत है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण अशोक की इस नीति की प्रतिक्रिया ही थी।

किन्तु यह सोचना कि धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ अधार्मिक राज्य है अथवा इस प्रकार के राज्य का न कोई राज्यधर्म हो सकता है और न होना ही चाहिए, सर्वथा भ्रममूलक है। ब्रिटेन एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है और वहाँ विभिन्न मतावलम्बी जन पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ रहते हैं। किन्तु इस पर भी ब्रिटेन का एक विशिष्ट राज्य-धर्म है, जिसे ऐंग्लीकन कहते हैं और वहाँ पर भी सभी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय अवसरों पर उस धर्म के अनुसार कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। न ही धर्म-निरपेक्षवाद से राष्ट्रीय संस्कृति, उत्सव और परम्पराओं के राजकीय संरक्षण में कोई

बाधा खड़ी होती है। इंगलैण्ड की संस्कृति, धर्म, परम्पराएँ सब का मूल-स्रोत और प्रेरणात्मक स्थल ईसाई धर्म तथा ऐंग्लो-सैक्सन विशिष्टताएँ हैं। एक-पत्नी विवाह ईसाई विधान का नियम है; यह मुसलमानों पर भी उसी उकार लागू होता है जिस प्रकार कि ईसाइयों पर। ब्रिटेन में रहने वाले सभी नागरिक चाहे वे किसी भी धर्म के अनुयायी हों, ब्रिटन्स ही कहे जाते हैं।

धर्म-निरपेक्षवाद का उपहासास्पद दुरुपयोग

किन्तु भारत में धर्म-निरपेक्षवाद का अर्थ है मुसलमान तथा उनके समान ही अर्द्ध-भारतीय लोगों की माँगों को स्वीकार करना और हिन्दू कही जाने वाली प्रत्येक वस्तु की अवहेलना करना। उदाहरणार्थ मुसल-मानों की माँग पर उर्दू को, जो किसी भी प्रदेश की भाषा नहीं है, प्रादेशिक भाषा बनाये जाने के लिए कांग्रेसी सरकार तत्पर है और दूसरी ओर गोवध निषेध-जैसी देशव्यापी माँग को यह कहकर ठुकराया जा रहा है कि भारत धर्म-निरपेक्ष राज्य है। इसी धर्म-निरपेक्षवाद के नाम पर हिन्दुओं के धार्मिक विधानों में हस्तक्षेप किया जाता है। एक-पत्नी प्रथा को मुसलमानों पर इसीलिए लागू नहीं किया जा रहा, क्योंकि उनकी धर्म-पुस्तक 'कुरान' में बहु-विवाह प्रथा प्रचलित है। मुस्लिम पृथक्वाद के गढ़ होने पर भी अलीगढ़-मुस्लिम-यूनिवर्सिटी और जामिया-मिलिया-इस्लामिया को विशेष अनुदान दिये जाते हैं। दूसरी ओर गुरुकुल कांगड़ी-जैसी प्रमुख तथा विशुद्ध राष्ट्रीय संस्था के प्रति केवल इसलिए भेदभाव किया जाता है कि यह आर्यसमाज द्वारा संचालित है। स्पष्ट है कि आज भारत में धर्म-निरपेक्षवाद की आड़ में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का परि-पोषण किया जा रहा है।

परिणामस्वरूप राष्ट्रीय संस्कृति तथा राष्ट्रीय हिन्दू समाज के हितों की अवहेलना हो रही है और चिरकालीन विशुद्ध भारतीयता के स्रोत निस्सत्व किये जा रहे हैं।

राष्ट्रीय चेतना के विकास में जैसा कि प्रारम्भिक अध्यायों में बताया जा चुका है, प्रमुख भाग समग्र देश, उसकी सीमाओं और संस्कृति के प्रति निष्ठा का होता है। किन्तु यहाँ तो भारतवर्ष की एक अविच्छिन्न राष्ट्र के रूप में कल्पना करना भी इन लोगों को सह्य नहीं। संविधान में इसे एक देश न कहकर विभिन्न राज्यों का एक सम्मिलित 'संघ' नाम दे दिया गया है और इसे पुनः अखण्ड बनाने के विचार का भी अविवेक-पूर्ण तथा तर्कहीन विरोध कर वातावरण को दूषित कर दिया गया है। शासकों द्वारा भारत की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक एकता पर समुचित बल न देने के कारण ही देश में भाषावाद और प्रान्तीयता की भावना बलवती होती जा रही है। जबकि जर्मनी और आयरलैण्ड की राष्ट्रीयता इनके पुनर्गठन की माँग से बल पा रही है वहाँ भारतीय राष्ट्रीयता के ठेकेदार कहे जाने वाले वर्तमान शासक भारत की अखण्डता की चर्चा से भी इस प्रकार डरते हैं मानो वह कोई साम्प्रदायिक अथवा राष्ट्र-विरोधी बात हो।

राष्ट्रीय पर्वों एवं महापुरुषों के प्रति भी इनका यही दृष्टिकोण है। बसन्त-पंचमी, होली तथा विजयादशमी-जैसे पर्व राष्ट्रीय एकता को दृढ़ बनाने के साधन बन सकते हैं किन्तु इन्हें सरकार की ओर से उपेक्षित किया गया है क्योंकि भारत के मुसलमानों ने इन्हें अभी तक अपनाया नहीं। यही दृष्टिकोण इस सरकार का राम, कृष्ण, व्यास, बाल्मीकि-सदृश महापुरुषों के प्रति भी है। स्वाधीनता संग्राम में जूझने वाले विक्रमी राणा प्रताप और शिवाजी का नाम लेना तक वे कल तक अपराध समझते थे, क्योंकि मुसलमान उन्हें नहीं चाहते। विपरीत इसके ये लोग हैदरअली और टीपू को राष्ट्रीय महापुरुष के रूप में प्रस्तुत करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते।

यही नहीं 'हिन्दू' शब्द भी इन लोगों ने अरक्षणीय तथा अनुपयोगी करार दिया है। कांग्रेसी राष्ट्रीयता के ठेकेदारों का इससे जी मिचलाने लगता है। इसका कारण वे यह बताते हैं कि यह शब्द साम्प्रदायिकता

से ओत-प्रोत है। इस प्रकार ये आत्म-प्रवंचना के शिकार बन रहे हैं और अपने अतीत के पृष्ठ न तो इन्होंने पलटे हैं और न ही ये उससे कुछ सीखना चाहते हैं। 'फूट डालो और राज्य करो' की जिस नीति के प्रतिपादन में अंग्रेजों ने हिन्दू शब्द का जिस संकीर्ण रूप में प्रचार किया, उसका ही राग अलापना इन शासकों की मानसिक दासता का द्योतक है।

कम्युनिस्टों का परिस्थिति से लाभ उठाना

राष्ट्रीयता के प्रति इस भ्रान्त दृष्टि से और मुसलमानों को देश की राष्ट्रीय समाज से अलग रखने की इस भ्रान्त नीति, जिसका उद्देश्य उनको कांग्रेस के प्रभाव में रखना है, के फलस्वरूप देश में राष्ट्रीयता, एकता और संगठन की शक्तियाँ दिनोंदिन क्षीण हो रही हैं और इससे लाभ उठाकर फूट की घृणित वृत्तियाँ विभिन्न रूपों में प्रकट हो रही हैं।

यह परिस्थिति अनेक विनाशकारी शक्तियों की पैशाचिक लीला के बहुत उपयुक्त है। कम्युनिस्ट, जिनका प्रेरणा-स्रोत भी भारत के बजाय पेकिंग या मास्को है, आज यह परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए प्रयत्नशील हैं। ये देश के अन्य विनाशकारी तथा अराष्ट्रीय तत्त्वों से मिलकर देश में विशृंखलता उत्पन्न कर रहे हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया है कि कांग्रेस द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीयता वस्तुतः राष्ट्रीयता का प्रतिवाद है। स्वदेश में एकता की कड़ियों को सुदृढ़ करने की अपेक्षा यह उसे और भी दुर्बल बना रही है। इसने मुस्लिम पृथक्वाद, साम्प्रदायिकता तथा जातीयता और प्रान्तीयता को एक नया जीवन दिया है।

समय की चट्टानों से टकराकर भी दृढ़ रहने वाली भारत की राष्ट्रीय पुरा संस्कृति के प्रेरणा-स्रोत को आज भी उसने नहीं पहिचाना है। वस्तुतः वह न तो राष्ट्रीय ही है और न धर्म-निरपेक्ष ही। इसका निर्माण हुआ है पृथक्तावाद, एवं सम्प्रदायवाद के अनुकूल उपादानों से और उपयोगिता है राजनीतिक दृष्टि से कांग्रेस को लाभ पहुँचाना।

इस अहिन्दू एवं अभारतीय दृष्टिकोण के कारण विशुद्ध तथा वैज्ञानिक भारतीय राष्ट्रीयता की जड़ें खोखली हो रही हैं और देश की एकसूत्रता संकटग्रस्त होती जा रही है।

परन्तु अभी भी स्थिति को सुधारा जा सकता है। १९६२ में कम्युनिस्ट चीन और १९६५ में पाकिस्तान के आक्रमण के समय भारत की सुप्त राष्ट्रीयता जिस वेग से जगी और उभरी और शिवाजी, महाराणा प्रताप और गुरु गोविन्दसिंह-जैसे राष्ट्र-पुरुषों की स्मृति जिस रूप में सामने आई, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि भारतीय राष्ट्रीयता के स्रोत अभी सूखे नहीं। उनका पुनरुद्धार कर उन्हें सक्रिय बनाना कठिन अवश्य है परन्तु असम्भव नहीं।

आज एकता की शक्तियों का, एक ही मातृभूमि, उसकी पुरा-संस्कृति व परम्पराओं के प्रति स्वच्छ अनुराग का कैसे पुनरुद्रेक करें कि ये तोड़-फोड़ की शक्तियों से अधिक ताकतवर हो जायें, यही भारतीय राष्ट्रीयता की समस्या है। संघटक शक्तियों की उपेक्षा कर निषेधात्मक अस्थायी आधार पर राष्ट्रीयता का प्रासाद खड़ा करने के सभी प्रयत्न अभी तक घातक सिद्ध हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। इससे पृथक्वादी वृत्तियों को और उभरने का मौका मिलेगा और एकता की शक्तियाँ कुण्ठित होंगी।

गम्भीरता से देखने-समझने की दूसरी बात यह है कि 'हिन्दू' शब्द महानद सिन्धु से उत्पन्न भारतवासियों का राष्ट्रीय भौगोलिक नाम है। यह सिन्धु के यूनानी नाम 'इण्डस' से व्युत्पन्न 'इण्डियन' शब्द का ठेठ फारसी व संस्कृत पर्याय है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में कहीं भी धार्मिक सम्प्रदाय के संकीर्ण अर्थ में इसका उल्लेख नहीं हुआ। इसका यह अर्थ कूट-बुद्धि अंग्रेजों की देन है जो इसके द्वारा राष्ट्रीय समाज को दुर्बल बनाना चाहते थे। और-तो-और पण्डित जवाहरलाल नेहरू, जो एक-पक्षीय राजनीतिज्ञ के नाते 'भारतीय-राष्ट्र' के लिये 'हिन्दू-राष्ट्र' का प्रयोग सरासर अनुचित समझते थे, उन्होंने भी इतिहास-जिज्ञासु के रूप में अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' में लिखा है—"हमारे प्राचीन साहित्य में कहीं भी हिन्दू शब्द का उल्लेख नहीं है। जैसा मुझे बतलाया गया ८वीं सदी की तान्त्रिक रचनाओं में पहली बार इसका प्रसंग आया है और वहाँ 'हिन्दू' से आशय भारतवासियों से है न कि धर्म-विशेष के अनुयायियों से।"

भारतेतर दुनिया में भी इसका यही अर्थ मान्य था। इस्लाम के धार्मिक केन्द्र मक्का की आबादी का वर्णन करते हुए श्री टी० ई० लॉरेंस अपनी विख्यात पुस्तक 'सैवन पिलर्ज़ आव विज़डम' में लिखते हैं कि, "मक्का में अरब, तुर्क, मिस्री और हिन्दू आबाद हैं।" हिन्दू से उनका अभिप्राय भारतीय मुसलमानों से ही था। जापान तथा दक्षिण-पूर्वी

एशिया के देशों में भारतीयों को 'इन्दु' कहा जाता है। स्पष्ट है कि यह हिन्दू का ही रूपान्तर है।

इस तरह इस्लाम और ईसाई मज़हबों की भाँति हिन्दू धर्म को मजहब के रूप में लेना अनुचित है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के शब्दों में, "हिन्दू धर्म एक जीवन-प्रणाली है न कि विचारों की रूप-योजना। यह एक गतिशीलता है, अविचल स्थिति नहीं; एक कार्यधारा है न कि उसका परिणाम; एक विकासमान परम्परा है, अपरिवर्तनीय प्रत्यादेश नहीं। पिछला इतिहास हमें यह सोचने को बाध्य करता है कि आगे भी चाहे चिन्तन के क्षेत्र की बात हो या कर्मक्षेत्र की, यह किसी भी ज़रूरी अवस्था का मुकाबला कर सकता है।" दिनांक २५-१०-५४ के 'आर्गेनाइज़र' में स्व० डा० काटजू ने लिखा था, "हम लोगों ने एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की है परन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि ऐसा केवल भारत में ही हो सकता था, जहाँ शासन-तन्त्र के निर्माण में हिन्दुओं का प्रमुख हाथ रहा है। और यह हिन्दू धर्म की अतिशय उदार प्रकृति के कारण ही सम्भव हो सका। दूसरे देशों में जो अधिकांशत: एकधर्मी हैं, धर्म-निरपेक्षवाद की कल्पना अवश्य की जा सकती है किन्तु इसे कार्यान्वित करने का अवसर ही नहीं आ सकता।"

अपने हिन्दूपन अथवा हिन्दुत्व के कारण ही कोई व्यक्ति भारत का नागरिक है। 'हिन्दू-इज्म' शब्द भ्रान्ति-जनक है। लगता है जैसे यह कोई मत या मजहब अथवा पूजा-अर्चना का कोई विशेष सिद्धान्त या विधि है। वस्तुत: ऐसा नहीं है। इसमें भारत में प्रचलित सभी पूजा-विधियों का समावेश है और इसके कारण पूजार्थियों के देश, संस्कृति, परम्पराएँ, इतिहास या महापुरुषों के प्रति अनुराग में कोई बाधा नहीं पड़ती।

इस तरह भारतीय होने के नाते सभी इण्डियन लोग हिन्दू हैं। ये तीनों एकार्थवाची शब्द हैं और इनका तात्पर्य भारत की जनता से है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि अपने को 'हिन्दू' का ग्रीक पर्याय

'इण्डियन' कहकर दमकने वाले लोग 'हिन्दू' कहलाने में झुंझलाते हैं। यह बिलकुल वैसी बात है जैसे कोई इंगलिशमैन इंगलिश कहलाने में लज्जा बोध करे और हिन्दुस्तानियों द्वारा रखा हुआ फिरंगी या अंग्रेज़ नाम सुनकर फड़क उठे। इससे उन अंग्रेज़-भक्त भारतीयों की मानसिक गुलामी ही झलकती है। इस मनोवृत्ति को दूर करना ही अभीष्ट है।

किन्तु साथ ही जब तक ऐसे लोगों की मानसिक दासता दूर नही होती तब तक इस शब्द को उन पर थोपने का प्रयत्न न कर बोलने और लिखने में इसका भारतीय के समानार्थी शब्द के रूप में अधिकाधिक प्रयोग करने से इसके विरोध को कम करना उपयुक्त होगा। किन्तु यह तभी सम्भव है जब इसके प्रयोक्ता इसमें अन्तर्निहित व्यापक अर्थ को स्वयं समझें और इसे इस्लाम तथा ईसाई मतों के समकक्ष बनाना छोड़ें। भारत में रहने वाले ईसाई और मुसलमान भी, अगर वे भारत तथा भारतीय संस्कृति के प्रति समुचित निष्ठा रखते हैं, हिन्दू ही हैं। वे सब हिन्दू राष्ट्र अथवा इण्डियन नेशन के विविध अंग हैं।

भारत के मुसलमानों और कुछ ईसाइयों में आज यह चेतना अधिकांशतः लुप्त-सी हो चुकी है। अतः भारतीय राष्ट्रीयता की सर्वप्रमुख समस्या यह है कि इन लोगों में राष्ट्र-चेतना का विकास किया जाय जो इनकी विभिन्न सम्प्रदाय-सम्बन्धी दलीय चेतना पर छा जाय। जहां तक मुसलमानों का सवाल है, यह इस्लाम की बहिष्कारी अलग-थलग प्रकृति के कारण कोई सुगम काम नहीं है। इस्लाम भारत में एक विदेशी और राष्ट्रघातक सम्प्रदाय के रूप में आया था और इसका यह विजातीय स्वरूप आज भी कायम है। इसका भारतीयकरण करके इसे आत्मसात् करने के अवसर तो आते रहे परन्तु हिन्दू नेताओं ने उनका उचित लाभ नहीं उठाया। पिछले सौ वर्षों में मुसलमानों के प्रति ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस की नीतियों ने उनके इस्लामी पृथक्‌वाद को बल देकर मुस्लिम समस्या को और भी जटिल बना दिया है और इस्लाम के भारतीयकरण के प्रवाह को मन्द कर दिया है। फलस्वरूप आज अधिकांश भारतीय

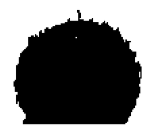
मुसलमान अपने ही देश में विदेशी दृष्टिकोण और आस्था लेकर विचर रहे हैं।

इस स्थिति को सुधारने का केवल एक ही मार्ग है। देश में इस प्रकार के हालात पैदा करने की आवश्यकता है कि मुसलमान व ईसाई अनुभव करें कि पृथक्वाद की नीति उनके अपने हित में नहीं और उनका तथा देश का सामूहिक हित इसी में है कि वे भारत, इसके इतिहास और संस्कृति से एकप्राण हो जाएँ। भारत की प्राचीनता के सम्मुख इस्लाम और ईसाई मतों का प्रादुर्भाव कल ही की घटना है। मुसलमानों और ईसाइयों के हृदयों में से मर्यादा-पुरुषोत्तम राम, योगेश्वर कृष्ण तथा रामायण, महाभारत-जैसे महाकाव्यों के प्रति श्रद्धाभाव केवल इसलिए कि इनके पूर्वजों ने किसी राजनीतिक या आर्थिक दबाव के कारण अपना धर्म बदला था, खत्म नहीं होना चाहिए। उन्हें भारत के अतीत पर गर्व करना चाहिए, क्योंकि वही तो उनका भी अतीत है। इण्डोनेशिया और चीन में जिस तरह मुसलमानों ने इण्डोनेशियाई और चीनी नाम ग्रहण किये हैं, उसी तरह इन लोगों को भी भारतीय नाम अपनाने चाहिएँ। संक्षेप में उन्हें अपने धर्म के प्रति भी ऐसा दृष्टिकोण अपनाना चाहिए जो उन्हें उनकी भारतभक्ति पर कुठाराघात करने से रोके। अलग-अलग मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख और जैन संस्कृतियों की चर्चा बन्द होनी चाहिए। भारत एक ही देश है और इसकी एक ही संस्कृति है। यह संस्कृति बहुत समृद्ध और विविध-रूपा है। देश के विभिन्न अंचलीय लोगों और भारतीय-कृत अनेक विजातीय तत्वों ने इसमें योगदान किया है। इनकी दान-राशि भारतीय संस्कृति में तदाकार ही हो गई है। जो व्यक्ति इस एक अखण्ड भूप्रदेश और इसकी संस्कृति के लिए सर्वाधिक निष्ठा रखते हैं, वे चाहे किसी भी धर्म या प्रान्त के हों, वास्तव में हिन्दू, इण्डियन अथवा भारतीय हैं।

स्वतन्त्र भारत के निर्माताओं और जन-नायकों का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे देश में ऐसा वातावरण बनायें जिसमें स्वस्थ राष्ट्रीयता पनप

सके। इसके लिए आवश्यक है कि सत्ताधीश इस महत् प्रश्न को देखने और सोचने के ढंग में आमूल परिवर्तन करें। उन्हें अपनी नीतियों में ऐसा परिवर्तन लाना चाहिए, जिससे साधारण लोगों में एकदेशीयता उत्पन्न हो और मुसलमानों तथा ईसाइयों का भारतीयकरण हो सके। राजनीति के क्षेत्र में ज़रा भी पथभ्रष्ट होने से चतुर्दिक् भयावह परिणाम हो सकते हैं और होते भी हैं। राजनीति में परिवर्तन लाने वाली बात जीवन में मन्थन कर सकती है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि भारतीय राष्ट्रीयता के प्रश्न को दलबन्दी की दृष्टि से न देखा जाय। विभिन्न राजनीतिक दलों के लिए इसका अलग-अलग अर्थ हो, यह न हो सकता है और न होना चाहिए। आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर मतभेद होना स्वाभाविक है। राष्ट्रीयता का काम है इन मतभेदों को गौण मानते हुए देशहित को प्रमुखता देना। उसमें आपत्काल में देश की भलाई के लिए सभी राष्ट्रीय दलों को शृंखलित कर अराष्ट्रीय एवं ध्वंसात्मक शक्तियों और संगठनों के मूल नाश करने का सामर्थ्य होना चाहिए और यदि भारतीय राष्ट्रीयता के मूलभूत प्रश्न पर मतभेद बने रहेंगे तो राष्ट्र की एकता और सुदृढ़ता विध्वंसात्मक, खण्डक और अराष्ट्रीय जातियों और प्रवृत्तियों के कारण, जिन्हें आज देश के अन्दर से भी और बाहर से भी प्रोत्साहन मिल रहा है, खतरे में पड़ी रहेगी।

इसलिए आज देश के सामूहिक राष्ट्रीय हित यह माँग करते हैं कि भारतीय राष्ट्रीयता के मूलस्वरूप और उसके प्रेरणा-स्रोतों के बारे में सारा राष्ट्र एकमत हो।



दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.